क्रांत-दर्शन

विनोबा

•

अखिल भारत सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, काशी

प्रकाशक
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ
राजघाट, काशी

पहली बार : १
जनवरी १९६२
मूल्य : १.२५

मुद्रक
भाऊ पानसे
परंधाम-मुद्रणालय
पो. पवनार, जि. वर्धा

अनुक्रमणिका

श्रीमान सोहनलालजी साहब दुगड की ओर से सादर भेंट

क्रान्त-दर्शन

सत्य ही सयानापन है। १

सचाई की राह पर चल। अगर अपना भला चाहता है तो सचाई को पकड़। मालूम होता है तेरा ख्याल हो गया है कि संसार असत्य से ही चलता है। परन्तु यह विचार ही गलत है। उसे छोड़ दे। सृष्टि परमेश्वर की है। और परमेश्वर तो सत्य-मूर्ति है। फिर वह संसार को झूठा कैसे बनायेगा? संसार कपटी नहीं। संसार झूठ पर नहीं चला है।

कभी कभी तुझे ऐसा आभास हो सकता है कि झूठे आदमी को ही खूब लाभ होता है। परन्तु ध्यान रख यह केवल भास ही है। भास पर विश्वास करके कोई काम करेगा तो तेरी हँसी होगी। या फिर रोयेगा। ऊपर ऊपर से देखना छोड़ दे। गहराई से देख। तब अनोखा प्रकाश होगा। चालाकी से दो दिन आदमी को भले ही लाभ होता हुआ दीखे परन्तु वह केवल धोखा साबित होगा। अथवा गुल होने से पहले जैसे दिये की लौ बढ़ जाती है वैसी बात होगी। पुराने जमाने में कभी-कभी अपराधी को या दुश्मन को पहाड़ पर से ढकेल दिया जाता था। तब उसे पहले पहाड़ पर तो चढ़ना ही पड़ता था। इस ऊपर चढ़ने के पेट में क्या क्या संचित रहता है कौन जानता है? झूठ और छलकपट का सहारा लेकर जो राष्ट्र ऊपर चढ़ते हुए दिखाई देते हैं कल इनको उस पहाड़ पर से गिरना ही है। अगर इसमें तुझे कोई सन्देह हो तो इतिहास उठाकर देख।

वास्तव में देखा जाय तो सत्य के समान सरल चीज दुनिया में है ही नहीं। इतना तो छोटा सा बच्चा भी जानता है। उल्टे झूठ बोलना बड़ा कठिन है। एक झूठ को छिपाने के लिए जाने कितनी झूठी बातें बनानी पड़ती हैं। यह हरकोई नहीं कर सकता। इसलिए इसका एक खास वर्ग बना दिया गया है जिसे 'कूटनीतिज्ञ' कहते हैं। धर्म का प्रवाह

समानरूप से बहता रहता है तो उसमें स्थिरता का आभास हो जाता है। इस प्रकार से कुछ कौटिल्य झूठ का अटूट प्रवाह बहाकर सत्य का आभास निर्माण करने का प्रयास निरंतर करते रहते हैं। परन्तु कभी-न-कभी तो झूठ की यह कलई खुल ही जाती है और संसार के सामने उसका असली रूप में प्रकट हो जाता है। परन्तु सच्चे आदमी को न यह प्रयास करना पड़ता है और न अपनी कलई खुलने का भय होता है। क्यों कि इसका तो सारा काम खुला और साफ होता है। और तीसरी बात यह कि इसका कोई काम व्यर्थ नहीं जाता। कुछ कौटिल्य को सवाया कूट कौटिल्य मिल सकता है। इस कारण वह कभी-न-कभी मात खाता ही है। परन्तु सचाई कभी मात नहीं खाती। क्यों कि सचाई में सवाई-ड्योढ़ी का प्रश्न ही नहीं रहता क्यों कि उस पर चढ़ाई हो ही नहीं सकती।

फिर एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए। कुछ कौटिल्यों की सारी खटपट क्यों होती है? नजदीक की राह निकालने के लिए। परन्तु तू तो रेखागणित जानता है न? फिर तू यह नियम कैसे भूल जाता है कि दो बिन्दुओं को जोड़नेवाली छोटी से छोटी रेखा केवल सरल रेखा ही हो सकती है। परन्तु कूट कौटिल्य सरल और नजदीक का रास्ता ढूंढने के लिए इधर-उधर भटकते रहते हैं। वे इतना नहीं जानते कि सरल राह ढूंढने के लिए दिमाग को इधर-उधर भटकाने की जरूरत ही नहीं है। केवल उस पर चलना होता है। सत्य के सामने सयानापन बेकार है अथवा सत्य ही सयानापन है। इसलिए कूट कौटिल्यों की टेढ़ी राह छोड़ दे। सन्तों की सीधी राह पकड़। यह राह आसान है सरल है सीधी है सबसे नजदीक की है। अपनी मंजिल पर यही तुझे पहुँचायेगी।

(महाराष्ट्र-धर्म ता. २ जुलाई १९२४ से संक्षिप्त)

अस्पृश्यता का प्रश्न अब मन्दिरों के आस पास चक्कर काटने लगा है। मन्दिरों का प्रश्न बहुत सरल है। परन्तु उसे हमने अत्यंत कठिन बना दिया है। ऐसे ऐसे धर्माचार्य पड़े हैं जो कहते हैं कि व्यवहार से छूआछूत को भले ही हटा दीजिए परन्तु मन्दिरों में तो वह रहनी ही चाहिए। वास्तव में अगर उन्हें कुछ कहना ही हो तो कहना यह चाहिए कि व्यवहार में भले ही एक बार अस्पृश्यता पड़ी रहे परन्तु मंदिरों से तो उसे पूरी तरह हटाना ही चाहिए। लेकिन बैल की पीठ पर लदी चीनी के बोझ जैसी हालत हमारे धर्माचार्यों की हो गई है। धर्म अनुभव का विषय है। उसका प्रकाश शुद्ध बुद्धि में ही होता है। शुद्ध बुद्धि के अभाव में शास्त्र-ग्रंथों की सारी सिर पच्ची बेकार है। कभी कभी शास्त्र शस्त्रों की अपेक्षा भी बड़ी हिंसा का कारण बन जाते हैं। और निःसन्देह इस अस्पृश्यता के रूप में हम बड़ी-से बड़ी हिंसा कर रहे हैं।

मूर्ति-पूजा का अर्थ है ईश्वर को सर्वत्र देखने का अभ्यास। इसके लिए मनुष्य को अपने मन के अनुकूल मूर्ति ढूंढ लेनी चाहिए। आप अपने मन की रुचि के अनुकूल मूर्ति का चुनाव अवश्य कर सकते हैं। परन्तु इसके कुछ नियम भी हैं। कई अन्य बातों का भी विचार करना पड़ता है। यों तो संसार में प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की मूर्ति ही है। फिर विशेष मूर्ति की जरूरत ही क्या है? इसलिए कि हम उसका सर्वत्र दर्शन नहीं कर सकते। इस मूर्ति में कुछ खास गुण होने चाहिए। यदि ये गुण उसमें नहीं हैं तो वह हिन्दू धर्म को मान्य नहीं होगी। इस समय हम इन गुणों की चर्चा में नहीं पड़ेंगे। परन्तु उनमें एक महत्वपूर्ण और आवश्यक गुण यह है कि वह सर्वोपलभ्य हो। जो मूर्ति सर्वोपलभ्य नहीं वह मूर्ति हो ही नहीं सकती। उदाहरणार्थ— सूर्य में यह गुण स्पष्ट रूप में है। सूर्य को देखकर हर आदमी को लगता है कि वह मेरी तरफ देख रहा है। "मां प्रति मां प्रति इति सर्वेन समक्" इस प्रकार श्रुति ने उसका वर्णन किया है। इसलिए हिन्दू धर्म ने सूर्य को परमेश्वर की सब से श्रेष्ठ मूर्ति माना है। हमारे मन्दिरों की मूर्तियों के

बारे में भी सबको— (अर्थात् जो आएँ उनको) ऐसा लगना चाहिए कि यह मूर्ति मेरी ओर ही देख रही है। तब और तभी उसे ईश्वर की मूर्ति कहा जा सकेगा।

जिन गुणों के अभाव में हिन्दू धर्म की दृष्टि से मूर्ति मूर्ति नहीं कही जा सकती उनमें से एक गुण—सर्वोपलभ्यता—उसमें से अस्पृश्यता के कारण चला जाता है। इस बात को यदि हम समझ लेंगे तो फौरन सब की समझ में यह भी आ जायेगा कि अस्पृश्यों के लिए हमें अपने मन्दिरों के दरवाजे क्यों खोल देने चाहिए।

(महाराष्ट्र-धर्म ता. ११ १-२७ से संक्षिप्त)

स्वाध्याय की आवश्यकता। ५

देहात में जानेवाले हमारे कार्यकर्ताओं में से अधिकांश उत्साही नवयुवक हैं। वे काम शुरू करते हैं उमंग और श्रद्धा से लेकिन उनका वह उत्साह अंत तक नहीं टिकता। देहात में काम करनेवाले एक भाई का खत मुझे मिला था। लिखा था— मैं सफाई का काम करता तो हूँ लेकिन पहले उसका जो असर गाँववालों पर होता था वह अब नहीं होता। इतना ही नहीं बल्कि वे तो मानने लगे हैं कि इसको यहीं से तनख्वाह मिलती है इसीलिए यह सफाई का काम करता है। अंत में उस भाई ने पूछा है कि क्या अब इस काम को छोड़कर दूसरा काम हाथ में ले लिया जाय?

यों कार्यकर्ताओं को अपने काम में शंकाएँ उत्पन्न होने लगती हैं और यह हाल सिर्फ कार्यकर्ताओं का नहीं बड़े-बड़े विद्वानों और नेताओं की भी यही हालत है। इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है। वह है स्वाध्याय का अभाव। यहाँपर 'स्वाध्याय' शब्द का जिस अर्थ में मैं उपयोग करता हूँ उसे बता देना आवश्यक है। स्वाध्याय का अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक किताब पढ़कर फेंक दी फिर दूसरी ली। दूसरी लेने के बाद पहली भूल भी गये। इसको मैं स्वाध्याय नहीं कहता। 'स्वाध्याय' के मानी हैं एक ऐसे विषय का अभ्यास जो सब विषयों और कामों का मूल

है जिस के ऊपर बाकी के सब विषयों का आधार है लेकिन जो खुद किसी दूसरे पर आश्रित नहीं। उस विषय में दिनभर में थोड़े समय के लिए एकाग्र होने की आवश्यकता है। अपने-आपको और कातने आदि अपने सब कार्यों को उतने समय के लिए बिल्कुल भूल जाना चाहिए। अपने स्वार्थ के संसार में जितनी बाधाएँ और कठिनाइयाँ पैदा होती हैं वे सभी इस परमार्थी कार्य में भी खड़ी हो सकती हैं और यह भी संसार का एक व्यवसाय बन जाता है। अगर कोई समझता हो कि यह परमार्थी काम होने की वजह से स्वार्थी संसार की झंझटों से मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है। इसलिए जैसे कुछ समय के लिए संसार से अलग होने की आवश्यकता होती है वैसे ही इस काम से भी अलग होने की आवश्यकता है। क्योंकि वास्तव में यह काम केवल भावना का नहीं है उसमें बुद्धि की भी आवश्यकता है। भावना तो देहातियों में भी होती है लेकिन उनमें बुद्धि की न्यूनता है। उसे प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि और भावना एकदम अलग-अलग चीजें हों सो नहीं है। इस विषय में मैं एक उदाहरण दिया करता हूँ।

सूर्य की किरणों में प्रकाश है और उष्णता भी है। उष्णता और प्रकाश को तात्त्विक पृथक्करण से अलग अलग कर सकते हैं। फिर भी जहाँ प्रकाश होता है वहाँ उसके साथ उष्णता भी होती ही है। इसी तरह जहाँ सच्ची बुद्धि है वहाँ सच्ची भावना होनी ही चाहिए। और जहाँ सच्ची भावना है वहाँ सच्ची बुद्धि होनी ही चाहिए। उनका पृथक्करण हम नहीं कर सकते हैं। दरअसल वे एकरूप ही हैं। कोई सोचता हो कि हमें बुद्धि से कोई मतलब नहीं है सेवा की इच्छा है और उसके लिए भावना का होना ही काफी है तो ऐसा सोचना गलत होगा। इस बुद्धि की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता है। विद्वानों को भी ऐसे स्वाध्याय की आवश्यकता है। फिर कार्यकर्ता तो भला ही है ना? उन्हें तो स्वाध्याय की विशेष आवश्यकता होनी चाहिए। इस बारे में बहुत से कार्यकर्ताओं को लगता है कि बीच-बीच में शहर के पुस्तकालयों में जाना मित्रों से मिलना-जुलना आदि बातें ग्रामसेवा के लिए उपयोगी हैं। इससे उत्साह बढ़ता है और उस उत्साह से गाँवों में काम करने में अनुकूलता होती है किंतु ग्राम

और उत्साह का स्थान शहर नहीं है यह हम नहीं मानते । शहर कोई खास वर्गों का देश नहीं !

उपनिषदों में एक कथा आती है । एक राजा से किसीने कहा कि तुम्हारे राज्य में एक विद्वान ब्राह्मण है । उसे ढूंढने के लिए राजा ने सेवकों को इधर-उधर दौड़ाया । सारे शहर में तलाश करने पर भी उस ब्राह्मण का पता न चला । तब राजा ने कहा– अरे जहाँ ब्राह्मण मिल सकता है वहाँ खोज करनी चाहिए । तब सेवकगण जंगल में गये और वहाँ वह ब्राह्मण मिल गया । ऐसी बात नहीं है कि शहर में तपस्वी मिल ही नहीं सकता । कभी कभी शहर में भी ऐसा मनुष्य मिल जाता है । परन्तु वहाँ का वातावरण उसके लिए अनुकूल नहीं होता । आत्मा का पोषण-रक्षण आमतौर शहरों में नहीं होता । देहात में प्रकृति का प्रत्यक्ष संबंध आता है । वह उत्साह के लिए अत्यंत आवश्यक है । शहर में प्रकृति से मेल कैसे होगा ? जंगल में नदी पहाड़ जमीन सब कुछ सामने ही दिखाई पड़ता है । फिर जंगल के निकट गाँव ही होते हैं शहर नहीं । उत्साह प्राप्त करने के लिए ग्राम-सेवकों को शहर में जाना पड़े इसकी अपेक्षा शहरी लोग ही कुछ दिन गाँवों में जाकर कार्यकर्ताओं से मिलते रहें यह अधिक अच्छा होगा ।

सच पूछिये तो उत्साह दूसरी ही जगह रहता है और वह जगह है अपनी आत्मा । उसके चिंतन के लिए कम से कम रोज एक घंटा तो अलग से निकालना चाहिए । चित्रकार अपना बनाया हुआ चित्र देखने के लिए दूर जाता है और वहाँ से उस चित्र में जो दोष दीखते हैं उन्हें पास जाकर सुधारता है । चित्र तो पास बैठ कर ही निकालना पड़ता है किंतु उसका दोष देखने के लिए अलग ही जाना पड़ता है । इसी तरह सेवा करने के लिए निकट जाना ही पड़ेगा पर काम देखने के लिए दूर जो अलग करने की भी जरूरत है । यही स्वाध्याय का उपयोग है । इसी में से उत्साह मिलता है मार्ग-दर्शन प्राप्त होता है और बुद्धि शुद्ध होती है ।

जो सब ओरसे तुच्छ माना जाता है जिसके न स्थान होता है न सम्मान जिसकी अवहेलना जिसका तिरस्कार दुनिया करती है उसे भगवान् अपने हाथों लेता है । उसे बाहर चाहिए, ध्याके चाहिए निरभिमानी मानवे चाहिए । परन्तु जब आप मानके नहीं रहे । हम जड़ हैं महाशय हैं । ईश्वर को यह नहीं चाहिए। जिन्हें गालियाँ मिल रही हैं जो परित्यक्त हैं ऐसे चुने हुए लोगों को लेकर भगवान् अपना काम कर लेगा । यदि हम चाहते हों कि प्रभुका कार्य हमारे हाथों हो तो—

कीर मस्तक ठेंगना । लागे संतांच्या चरणा ।।

मानी "मस्तक नीचा करो इतना नीचा कि वह संतोंके चरणों पर जा लगे । यह हमें सीख लेना चाहिए । जो वर्षा हो रही है, उसे रोकने के बजाय उसका उपयोग करना चाहिए ।

कई बार मेरे मनमें आया है कि मैं गाँवोंमें घूमता फिरूँ । जेलसे छूटते समय भी यही विचार था । परन्तु आज तो परिस्थिति ही भिन्न है । मुझे उसका भी दुख नहीं । जो स्थिति प्राप्त होती है उस में मेरे आनंदका निवास होता है । मेरे पैरोंकी गति कब मिमेगी कह नहीं सकता । एक बार मति मिली कि वह ठहरेगी ऐसा भी नहीं दीखता ।

गाँवोंमें हमारे व्यक्ति घूमते रहने ही चाहिए । अस्पृश्यता धार्मिक हलचल है । वह कोने-कोनेमें पहुँचनी चाहिए । गांधीजी देशभरमें घूम लिये—इतना हि काफी नहीं । हजारों उस कामको अपने कंधोंपर ले लें । व्याख्यान नहीं आहुति दीजिए ।

गाँवोंकी जनता महादेव है—वह स्वयंभू महादेव है। वह गाँवोंहीमें रहेगा । यदि तुम इस महादेवके पूजक हों तो तुम्हें उसके पास जाना चाहिए । बीस-बीस गाँव के लिये और लगातार घूमने की धून मचा दी जैसा होना चाहिये । भक्तसे जब भगवान् लक्ष्मीनारायणके मंदिरकी एक हजार प्रदक्षिणा करनेके लिए कहा जाता है तब उसमें भक्तको कुछ अनुचित नहीं मालूम होता । तो

फिर जनतारूप महादेवके पूजनमें भी भक्तका यह उत्साह क्यों न होना चाहिए ? देवता की एक प्रदक्षिणा करके भक्त एक बार देवताका दर्शन करता है और फिर दूसरी बार प्रदक्षिणाके लिये आगे बढ़ता है । फिर दर्शन फिर प्रदक्षिणा यही उसका क्रम होता है । जनसेवकों को भी चौदह दिनोंमें चौदह गाँव घूमने चाहिए । पंद्रहवें दिन प्रधान केन्द्रमें अपनी जानकारी देनी चाहिए । और फिर तैयार होकर प्रदक्षिणापथमें लगना चाहिए । भक्त जब प्रत्येक परिक्रमा में प्रभु-मूर्ति की ओर देखता है तब उसके हृदय पर मूर्ति अंकित होती जाती है; हृदय पर जमती जाती है; उसका स्वरूप ध्यानमें आता जाता है । स्वरूप ध्यानमें आते ही यह समझमें आता है कि इस देवताकी भक्तिका मार्ग कौनसा है पूजाकी सामग्री क्या है । उस समय यदि मैं भक्त होऊँ तो देवतासे एकरूप हो जाता हूँ । मेरा हृदय देवताके हृदयसे मिल जाता है । तभी देवताकी कृपा होती है उसका अनुग्रह होता है ।

लोक-सेवा हमारी मूर्ति-पूजा है । ५२५ गाँवोंका संग्रह हमारा महादेवालय है । गाँवोंमें क्या-क्या है, उसकी हम फेहरिस्त बना के मन पर भी कागज पर भी । फेहरिस्त हम जन-सेवकों को दे दें वे देवताका स्वरूप समझ लें । आज वे यह दिगंबर हो गया है कुछ लिपट रही है, जिससे पानी बहता है कैसा मैल ही उसके पास संपत्ति रह गई है और बंधनका मिलाप । जन-सेवक जान लें कि देवताका स्वरूप क्या है, चेहरा कैसा है, भाव कौन-से हैं उसकी रुचि और अरुचि की वस्तुएँ क्या हैं और उसका नैवेद्य क्या हो गया है और उसपर कौनसे पुष्प चढ़ते हैं । परिश्रम हुए बिना पूजा न बनेगी । ऐसा न करनेपर शिवपर तुलसी होगी विष्णु पर बेल-पत्र ! देवपूजामें जल्दबाजी नहीं चलती । तुम्हें तीव्रता हो पर देवताको जल्दी नहीं पड़ी । यह सात्विक अवतार है । उसपर इकट्ठा पानी उँडेलनेसे काम नहीं चलेगा उसे तो बिन्दु-बिन्दु की चाह है । एकदम उँडेलने की अपेक्षा यह तो संतत धारा जारी रखनेसे ही प्रसन्न होता है ।

गांधी-युगके साहित्यकी हलचलमें अनेक गुण हैं पर एक दोष भी है। जितने उत्साहसे प्रेमसे निष्ठासे मध्य युगमें संत प्रचार करते थे मुझे नहीं दीखता कि हम उसी निष्ठासे विचार प्रचारका कार्य कर रहे हैं। जबरदस्तीसे रिश्वतसे अहंकारसे उत्साहके अतिरेकसे और स्वार्थीसे मिशनरीकी तरह एकांगी अंधवृत्तिकी तरह आप विचार प्रचारका कार्य करें, ऐसी बात मैं नहीं कहता। ऐसा करना ठीक नहीं होगा। परंतु निष्ठावंत संत गांव-गांवमें जाकर हरि-नाम ध्वनिकी धूम मचा देते थे वह हम नहीं करते। वैसा निष्ठावंत प्रचार वर्तमान हलचलमें नहीं दिखाई देता। ये बातें मुझपर भी लागू होती हैं। संतोंका-सा उत्साह आज भी चाहिए। आजकी हलचलमें योग्यताकी कमी नहीं। उद्धारका जो कार्य संतोंने किया उसी कार्य को आगे खींचा जा रहा है। परंतु संतोंकी निष्ठा असीम थी—वह उनमें समाती न थी—वह फूटकर बाहर फैलती थी। उस तीव्रताकी उस वेगकी निष्ठा आज नहीं मिलती। पानी कहीं-न-कहीं रुक गया है। बरसता है पर बह नहीं रहा—वह फैलता नहीं जलाशय नहीं बनाता प्रवाहित नहीं होता खेती हरी भरी नहीं होती।

नारद तीनों लोकमें फिरता था। वह नीचे दरजेके लोगोंमें घूमता मध्यम श्रेणीके लोगोंके बीच जाता उच्च श्रेणीके लोगों तक पहुँचता यही तीन लोक-समुदाय हैं। एक मित्रने मुझसे कहा कि आजके समाचार-पत्र नारद हुए। परन्तु ये नारद नारद न हुए के बराबर हैं। इनमें पैसे देनेकी व्याधि है समस्त सेनेकी उपाधि है। परंतु देवर्षि घर-घर अपने आप जाता मधुर वाणीमें अपने विचार लोगोंके गले उतारता और फिर उन्हींका आभार मानता। जो विचार सुनते उन्हींका वह उपकार मानता। नारदको मालूम होता कि उसे आज भगवद्दर्शन हुए। आज देवर्षिका वही काम ठीक-ठीक नहीं हो रहा है। हो कैसे हमारे हृदयमें वह प्रतिबिंबित ही नहीं। खादी अस्पृश्यता-निवारण और राष्ट्रीय विचार, सबके प्रचारके

लिए अर्पित चाहिए, किन्तु इन विचारोंका तत्त्वज्ञान ही हमारे पास काफी नहीं—हमारी जानकारी भी पूरी नहीं । जानकारी न होना अज्ञान है किन्तु जानकारीकी प्राप्तिमें लापरवाह रहना दोष है । बापूने अभी एक छोटा सा लेख लिखा था । उस लेखका आशय था कि हिटलर भी धर्मनीतिमें धर्मके महत्त्वको कम कर रहा है और मध्य युगके समान ही वर्तमान युगमें यह वह धर्मान्ध-वर्गोको प्रोत्साहन दे रहा है मैंने एक भले कार्यकर्तासे पूछा "आपने यह लेख पढ़ा है ?" उन्होंने उत्तर दिया "नहीं"। कितनी ही बार ज्ञानको सम्मुख पाकर हम कह देते हैं 'भला क्या होगा !' यह अज्ञता ही घातक है । महाभारतके वन-पर्वमें एक कथा है कि एक ऋषि धर्मराजाके पास आये । धर्मराज वनमें दुःख भोगते थे । किन्तु करुणामय ऋषिको पाकर धर्मका दुःख वाणीके द्वारसे बह निकलता । वह कहते –'ऐसे दुःख किसीने न भोगे होंगे । ऋषि कहते —'राम और सीताको भी ऐसा ही वनवास भोगना पड़ा था ।' धर्म कहते 'जरा वह रामकी कथा तो कहिये ।' यदि इन बातों परसे कोई कहे कि धर्म को रामकी कथा मालूम न थी तो उस व्यक्तिकी इसे अज्ञानलीला ही समझनी चाहिए । धर्मको दीखता कि ऋषिके मुखसे पुन रामकी उज्ज्वल कथा सुननी चाहिए । पानी वही है, परन्तु गोमुखमें से आया कि अधिक पवित्र हुआ ।

सब-धर्म-समभाव । ६ :

दो प्रश्न हैं

१ सबधर्म-समभाव का विकास करने के लिए क्या गांधी-सेवा-संघ की ओर से कुछ ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं है जिनमें विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक विचार हो ?

२ क्या आश्रम तथा अन्य संस्थाओं में भिन्न-भिन्न धर्मों के महापुरुषों के उत्सव मनाकर उन अवसरों पर उन धर्मों के विषय में ज्ञान देना वांछनीय नहीं है ?

१—अगर समभाव की दृष्टि से कोई धर्म-लेखक पुस्तक तैयार करे और ग्रामी-सेवा-संघ उचित समझे तो ऐसी पुस्तक का प्रकाशित करना ठीक होगा। पर प्रकाशन-विभाग खोलना मुझे पसंद नहीं है। सच बात तो यह है कि संसार में धर्मों के बीच जो विषम-भाव है, वह उतना बुरा नहीं है। भारतवर्ष में भी धर्म-धर्म के बीच काफी विरोध बताया जाता है लेकिन वह तो अखबारी है। वास्तव में विरोध है ही नहीं। हमारी कई हजार वर्षों की संस्कृति ने हम लोगों में समभाव पैदा कर दिया है। देहात में अब भी वह नजर आता है। आजकल की नई प्रवृत्ति ने विरोध जरूर पैदा कर दिया है पर वह धार्मिक नहीं है। उसका स्वरूप आर्थिक है। धर्म का तो बहाना ले लिया जाता है और अखबारों में प्रकाशन द्वारा उसे महत्व मिल जाता है। अगर वही प्रकाशन का काम हम अपने हाथों में ले लें तो उन्हींके शस्त्र का उपयोग करेंगे। यह अच्छी नीति नहीं है। जिस शस्त्र में प्रति-पक्षी निपुण है उसीका उपयोग करने से काम नहीं चलेगा। लेकिन इससे भी भयानक एक चीज और है। वह है सर्वधर्म-सम-अभाव। अभाव बढ़ रहा है नास्तिकता बढ़ रही है। नास्तिकता से मेरा संकेत तात्त्विक नास्तिकता की ओर नहीं है। तात्त्विक नास्तिकता से मैं डरता नहीं। पर पुस्तकें लिखने से काम पार नहीं पड़ेगा। हम सिर्फ भी तो कितने लोग पढ़ेंगे? ऐसा साहित्य पढ़नेवाले तो हजारों हैं। अपने जीवन में हम जिन चीजों को उतार सकेंगे उन्हीं का प्रचार होगा। पहले यही हुआ करता था। छापेखाने का आविष्कार तो हाल ही में हुआ। पर छापेखाने को आये हुए तो सौ वर्ष हुए। इस बीच किसी नये लेखक की लिखी कोई ऐसी पुस्तक निकली है जिसने तुलसीकृत रामायण और तुकाराम के अभंगों की तरह जनता में प्रवेश किया हो? प्रकाशन प्रचार का एक साधन है तो सही पर धार्मिक प्रचार में उसकी कीमत कम-से-कम है। जिस चीज को हम अपने श्रद्धेय पुरुषों के मुख से सुनते हैं उसका अधिक असर होता है। प्रकाशन से विशेष काम की संभावना नहीं जान पड़ती।

२—जहाँ आश्रम है वहाँ सब धर्मों के प्रवर्तकों के विषय में भी अवसर पर चर्चा कर सकते हैं। पर मेरी वृत्ति तो निर्गुण रही है। रामनवमी या कृष्णाष्टमी पर मैंने प्रसंगवशात् भाषण किये हैं लेकिन उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया। जहाँ ऐसे उत्सव हो सकते हैं वहाँ ऐसे भाषण होते रहने में कोई हर्ज नहीं है।

दरिद्रों से तन्मयता । : ७ :

दो प्रश्न हैं

१ हममें से जो लोग आजकल मध्यम वर्ग का जीवन बिताते आये हैं परंतु अब दरिद्र वर्ग से एकरूप होना चाहते हैं वे किस क्रम से अपने जीवन में परिवर्तन करें जिससे तीन-चार वर्ष में वे निश्चित रूप से उन दरिद्रों से एकरूप हो सकें ?

२ मध्यम अथवा उच्च वर्ग के लोग दरिद्रों के प्रति अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते हैं ? क्या इस प्रकार का कोई नियम बनाना ठीक होगा कि गांधी सेवा संघ के सदस्य कोई ऐसा उपाय करें जिससे उनके खर्च में से हर (१५)में से ४) उनके दरिद्रों के घर सीधे पहुंच जायें ?

पहले तो हमें यह समझना चाहिए कि हम मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग के माने जानेवाले 'प्राणी' हैं अर्थात् हम मालवान् बनना चाहते हैं। जिनकी सेवा करना चाहते हैं उनके-से बनना चाहते हैं। पानी कहीं का क्यों न हो समुद्र की ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्र तक नहीं पहुंच सकता लेकिन चाहे वह मेरा नहाया हुआ हो या वजारी का दोनों की गति समुद्र की ओर है। दोनों निम्नगति—गम हैं। एक जगह थोड़ा पानी उसकी ताकत कम होने के कारण मार्ग ही बीच में रुक जाय और किसी छोटे वृक्ष को जीवन प्रदान करने में उसका उपयोग हो —यह तो हुआ उसका भाग्य परंतु उसकी गति तो केवल समुद्र ही है। समुद्र तक पहुंचने का भाग्य तो गंगा के समान महानदियों को ही प्राप्त होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणियां पहाड़ और टीले के समान हैं। जहां जिसकी हमें सेवा करनी है वह महासमुद्र है। इस महासमुद्र तक हम न भी पहुंच सकें तो भी कामना तो हम यही करते हैं कि यथाशक्य पहुंचें। अर्थात् जहांतक पहुंच पायें उतने ही से संतोष न मानें। हमें जिसकी सेवा करनी है उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवन की दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्नगति—गम बनना चाहिए।

पर इस संबंधमें कोई स्थूल नियम नहीं बनाये जा सकते । अगर बनाना शक्य हो तो भी वे मेरे पास नहीं है और न मैं चाहता ही हूं कि ऐसे नियम बनाने का कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पांच वर्षों में उच्च और मध्यम श्रेणी के लोगों को गरीब बना देने का कोई तरीका नहीं है। हमें गरीबों की सेवा करनी है, यह समझकर जाग्रत रहकर यथाशक्ति काम करना चाहिए। कोई नियम नहीं है इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थ की गुंजाइश है। पिछले सोलह वर्षों से मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मैं गरीबों से एकरूप हो जाऊं लेकिन मैं नहीं समझता कि गरीबों जैसा जीवन बना सका हूं। पर इसका उपाय क्या है? मुझे इसका कोई दुःख भी नहीं है। मेरे लिए तो प्राप्ति के आनंद की अपेक्षा प्रयत्न का आनंद बढ़कर है।

शिव की उपासना करनी हो तो शिव बनो ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबों की सेवा करने के लिए गरीब बनना चाहिए। पर इसमें विवेक की जरूरत है। इसके मानी यह नहीं कि हम उनके जीवन की बुराइयों को भी अपना लें। वे जैसे दरिद्रनारायण हैं वैसे मूर्ख-नारायण भी तो हैं। क्या हम भी उनकी सेवा के लिए मूर्ख बनें? शिव बनने का मतलब यह नहीं है। जिनका धन गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गई। उनके जैसा बनकर हमें अपनी बुद्धि नहीं खोनी चाहिए।

देहात में किसान धूप में काम करते हैं। लोग कहते हैं बेचारे किसानों को दिनभर धूप में काम करना पड़ता है।' अरे धूप में और खुले आकाश के नीचे काम करना नहीं तो उनका वैभव क्या रह गया है। क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते हैं? धूप में तो विटामिन काफी हैं। अगर हो सके तो हम भी उन्हींकी भांति करना शुरू कर दें। पर वे जो रात में मकानों को संदूक बनाकर उनमें अपने-आपको बंद करके सोते हैं उसकी नकल हमें नहीं करनी चाहिए। उनसे भी हम कहें कि रात में आकाश के नीचे सोओ और नक्षत्रों का वैभव लूटो। हम उनके प्रकाश का अनुकरण करें, उनके अंधकार का नहीं। उनके पास अगर पूरे कपड़े नहीं हैं तो हम उन्हें इतना समर्थ क्यों न बना दें कि वे

भी अपने लिए काफी कपड़े बना लें। उन्हें महीनों तरकारी नहीं मिलती दूध नहीं मिलता क्या हम भी तरकारी और दूध छोड़ दें! यह विचार ठीक नहीं है। एक आदमी अगर डूब रहा है और अगर उसे देखकर हमें दुःख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे डूब जायँ? इसमें दया है सहानुभूति भी है। लेकिन वह दया और सहानुभूति किस काम की जिसमें तारक-बुद्धि का अभाव हो? सच्ची दया में तारक-शक्ति होनी चाहिए। तुलसीदासजी ने उसे 'कृपाल अनायक' कहा है।

हमें अपने जीवन की खराबियों का निकालकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए। उसी प्रकार उनकी बुराइयों को दूरकर उनका जीवन भी पूर्ण बनाने में उनकी सहायता करनी चाहिए। पूर्ण जीवन वह है जिसमें रस या उत्साह है। भोग या विलासिता को उसमें स्थान नहीं। हम बच्चों-जैसे बनें या पूर्ण जीवन की ओर बढ़ें। कोई कहते हैं ऐसा करने से हमारा जीवन त्यागमय नहीं दिखाई देगा। पर हमें इस बात का विचार नहीं करना है कि वह कैसा दिखाई देगा। हम यह भी न सोचें कि इसका परिणाम क्या होगा? परिणाम-परायणता को छोड़ देना चाहिए। हमारी जीवन-पद्धति उनकी जीवन-पद्धतिसे भिन्न है। हमें दूध मिलता है उन्हें नहीं मिलता इस बात का हमें दुःख हो तो वह उचित ही है। यह दुःख-बीज तो हमारी हृदय-भूमि में रहना ही चाहिए। यह हमारी उन्नति करेगा। मुझे तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दुःख होगा। अगर किसी चमत्कार से कल ही हमें स्वराज्य मिल जाय तो उसमें कोई आनंद नहीं। हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्ति से तारक-बुद्धि का प्रचार होकर सारी देहाती जनता एक इंच भी आगे बढ़ सके तो हम स्वराज्य के नजदीक पहुँचेंगे जैसे नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं उसी प्रकार हमारी वृत्ति और भक्ति गरीबों की ओर बहती रहे, इसी में कल्याण है।

---

* गांधी सेवासंघ के सावली-अधिवेशन में प्रकट किये गये विचार.

आपने झण्डे के बारे में पूछा है। सब से पहले इतनी बात याद रखिये कि मैं केवल अपने विचार आपको बता रहा हूं। इन्हें आप कांग्रेस या किसी अन्य संस्था या पक्ष के न मानें।

आपके प्रश्न का भावार्थ यह है कि गणेश-उत्सव या इसी प्रकार के जुलूसों में हमें किन झण्डों का उपयोग करना चाहिए। आपके सामने राष्ट्रीय झण्डा और भगवा झण्डा के बीचका वाद है। इस विषय में मेरी दृष्टि यह है—राष्ट्रीय अर्थात् अखिल भारत निदर्शक प्रसंगों पर राष्ट्रीय झण्डे का प्रयोग करना उचित होगा। अर्थात् जहां किसी खास धर्म किसी विशेष समाज का सूचन करने की भावना नहीं हो वहां राष्ट्रीय अर्थात् तिरंगे चरखामुद्रांकित झण्डे को लिया जाय। भगवा झण्डा पांथिक झण्डा है। उसका उपयोग हिन्दू-महा-सभा या इसी प्रकारके अन्य समारंभों में किया जाय।

राष्ट्रीयता और पांथिकता से धार्मिकता एक अलग चीज है। गणपति उत्सव एक धार्मिक उत्सव माना जाता है। वह न तो हिन्दू-सभा का पांथिक उत्सव है और न राष्ट्रीय ही है। इसलिए अच्छा तो यह हो कि इसमें न तो भगवा झण्डा हो और न राष्ट्रीय झण्डा हो।

हिन्दू धर्म विश्वव्यापक धर्म है। किसी भी सच्चे धर्म का स्वरूप ऐसा ही होगा। इसलिए मुझे यह विचार ही नहीं जंचता कि उसका कोई झण्डा हो भी। हिन्दू धर्म ने अपना कोई स्वतन्त्र झण्डा भी तो नहीं बनाया है।

परन्तु किसी विशिष्ट सिद्धान्त का सूचन करने या भेद बताने की दृष्टि नहीं है और केवल शौक पूरा करने की इच्छा है तो जिसके जी में जो आवे वह झण्डा ले सकता है। ऐसे पांच-पचीस झण्डे शौक से—अर्थात् अविरोधपूर्वक गणेशजी के एक ही जुलूस में लोग रख सकते हैं। हर आदमी की पोशाक अलग-अलग होती ही है न? वैसे यह होगा।

मतलब यह कि गणेशजी के जुलूस में या तो एक भी झण्डा नहीं हो या तरह-तरहके और अपनी-अपनी रुचि के सौ-पचास झण्डे भी हों तो कोई हर्ज नहीं ऐसा मुझे लगता है।

अंत में 'स्वल्पो-धर्म-स्याचित्' अर्थात् धर्म के अपने तकाजा रहना है शंकराचार्य के इस वचन को सदा याद रखूँ और 'अविभक्तं विभक्तेषु' यह गीता-वचन भी कोई भूले नहीं यही मेरी प्रार्थना है।
(ग्राम-सेवा-वृत्त ५-४-४)

हिंसा से अहिंसा की ओर । १

प्रत्यक्ष कार्य की दृष्टि से भारत के प्राकृतिक और सांस्कृतिक स्वभाव में-(सुविधा के खातिर स्वभाव के ऐसे दो भेद मैं करता हूं) अहिंसा के लिए अनुकूल ऐसी कोई विशेषता है ? बापूजी ने आपके सामने जो प्रश्न रक्खा है उसका भावार्थ समझना चाहिए। किशोरलालभाई ने जो कहा है वह तत्वतः स्पष्ट है ही। हम ऐसा भेद नहीं कर सकते कि किसी खास देश की जनता प्रकृतिवश स्वभाव से अहिंसक होती है और किसी दूसरे देश की हिंसक। प्रकृति तो सर्वत्र एक और त्रिगुणात्मक है। सत्व रज और तम सभी जगह है। इस देश में जन्म ग्रहण करने से कोई विशेषता मनुष्य के स्वभाव में आ जाती है, ऐसी कोई बात नहीं है। यहां के जलवायु में कोई विशेष गुण है, ऐसा हम नहीं मान सकते।

परन्तु भारत और यूरोप के बीच कोई तात्त्विक भेद होने पर भी आज दोनों के स्वभाव में भेद तो है ही। यूरोप में इन दिनों जो प्रयोग चल रहे हैं उनका अनुकरण करने से भारत का आज का स्वभाव बना है। नौजवानों और बूढ़ों के स्वभाव में जो फर्क होता है वही फर्क आज के यूरोप और भारत के स्वभाव में है। इसी बात को कुछ अधिक विस्तार से स्पष्ट करता हूँ।

किशोरलालभाई ने कहा कि बड़ा देश और विशाल जन-संख्या ये दोनों बातें अहिंसा की दृष्टि से हमारी एक अनुकूल विशेषता है। हमारी संख्या विशाल क्यों है ? इतना बड़ा देश और उसमें इतनी अधिक जन संख्या का होना— इसका कोई खास कारण अवश्य होना चाहिए। वह कारण हमें इस युग में नहीं मिलेगा। उसकी खोज हमें प्रागैतिहासिक

काल में करनी होगी। और वहां भी इतिहास की पुस्तकों में हमें यह लिखी हुई नहीं मिलेगी। हम देखते हैं कि यूरोप में अनेक छोटे-छोटे राष्ट्र हैं। जर्मनी में कोई सात आठ करोड़ लोग हैं। इंग्लैंड में चार करोड़ हैं। और अन्य देशों में तो इनसे भी कम—दो-दो तीन-तीन करोड़ की जनसंख्या है। तब हमारी जनसंख्या तीस चालीस करोड़ कैसे हो गई? हमारी संतानोत्पादन की शक्ति भी ऐसी बहुत अधिक नहीं है। तो इसका कारण शायद यह है कि हिंसा के और अलग-अलग रहने के बहुत से प्रयोग हम कर चुके हैं। और जब उनमें सफलता नहीं मिली तब हमने एक बड़ा राष्ट्र बनाया। यह सारा प्रागैतिहासिक इतिहास है। आप चाहें तो इसे काल्पनिक इतिहास भी कह सकते हैं। परंतु है यह इतिहास ही।

आज यूरोप में जिन राष्ट्रों के बीच युद्ध चल रहा है उनमें और हमारे प्रान्तों में क्या फर्क है? उदाहरण ही देना हो तो मैं तो उलटे कहूंगा कि हमारे महाराष्ट्र और कर्नाटक के बीच जितना फर्क है फ्रान्स इंग्लैंड जर्मनी के बीच उससे कम ही है। उनकी तो लिपि तक एक है। धर्म और संस्कृति तो एक है ही। परन्तु फिर भी उन्होंने अलग-अलग राष्ट्र बना लिये। हमारे यहां तो आठ दस प्रमुख लिपियां हैं एक एक लिपि को सीखने में दो दो महीने लग जाते हैं। फिर भी हम इन सबको मिलाकर एक राष्ट्र मानते हैं।

भारत में बाहर वालों के आक्रमण भी क्यों सफल हुए? मैं तो इसका कारण केवल एक ही जानता हूं। वह है लोभ। मनुष्य का मुख्य और विशेष दुर्गुण और शत्रु लोभ है। काम और क्रोध तो पशुओं में भी होते हैं। इन पर तो उसने कुछ काबू पा लिया है। परन्तु लोभ पर वह अभी जरा भी काबू नहीं पा सका है। मनुष्य में पशु की अपेक्षा लोभ की मात्रा अधिक है। हमने एक राष्ट्र तो बनाया परन्तु उसके साथ अनेक छोटी छोटी जातियां भी बनायीं। इसमें हमारे संकुचितपने का भाव प्रकट हुआ वही लोभ-मूलक है।

इस लोभ के कारण ही भारत परतंत्र बना है। भारत को मुसलमानों ने या अंगरेजों ने नहीं जीता है। उन्होंने हमें जीता उसमें भी हमारी

विशेषता ही प्रकट होती है । कुछ लोग कहते हैं 'लाख डेढ़ लाख अंग्रेज तीस चालीस करोड़ हिन्दुस्तानियों पर राज कर रहे हैं । इतनी भेड़ बकरियों को भी इतने थोड़े आदमी मुश्किल से संभाल पायेंगे । यह सच है । एक लाख चरवाहे तीस-चालीस करोड़ भेड़ों को नहीं संभाल सकेंगे । क्यों कि वे पशु हैं । परन्तु हमें अधिक व्यवस्थापकों की जरूरत ही नहीं है । क्यों कि भारत व्यवस्थित और सभ्य मनुष्यों का देश है । पहले भी हमें व्यवस्थापकों की कभी जरूरत नहीं रही । आज भी नहीं है । अनुभव से हमारे खून में ही व्यवस्था आ गई है । आपस में लड़ते रहने में लाभ नहीं है । हिंसा में कल्याण नहीं है । राष्ट्रीय दृष्टि से इतना ज्ञान हमें हो गया है । यद्यपि अभी हिंसा पर से हमारा विश्वास पूरी तरह से नहीं उठा है ।

व्यक्ति की दृष्टि से देखेंगे तो भी इस राष्ट्र के और दूसरे राष्ट्र के मनुष्यों में कोई फर्क नहीं है । परन्तु समाज की दृष्टि से देखेंगे तो हमारे राष्ट्र में आप कुछ विशेषता पाएंगे ।

हम हजारों वर्षों से परतंत्र हैं । उसका भी एक विशेष कारण है । अल्प सन्तोषी बनकर हम स्वतंत्र होना नहीं चाहते । इस लिए हम परतंत्र हैं । इस विशेषता पर अभिमान भी किया जा सकता है । 'गुलामी पर भी अभिमान' करने की बात सुनकर कुछ लोगों को अवश्य आश्चर्य होगा । अगर हमने अपने प्रान्तों को अलग अलग राष्ट्र मान लिया होता तो उनमें से कुछ राष्ट्र आज अवश्य हमें स्वतंत्र दिख सकते थे । परन्तु हमारा तो संकल्प यह था कि हम भारत को एक राष्ट्र सिद्ध करेंगे—फिर कितने ही लम्बे समय तक परतंत्रता में हमें रहना पड़े तो भी हम चिन्ता नहीं करेंगे । आज हम प्रत्यक्ष देखते भी हैं कि छोटे छोटे राष्ट्र कायम के लिए स्वतंत्र रह भी नहीं सकते । तो इस प्रकार छोटे छोटे राष्ट्र बनाकर अल्प सन्तोषी बनकर हमने स्वतंत्र होना पसन्द नहीं किया इसी लिए हम परतंत्र दिखते हैं । इस दृष्टि से हमारी परतंत्रता भी हमारी एक राष्ट्रीयता का चिन्ह है । हमने निश्चय किया है कि हम एक परिवार के रूप में ही रहेंगे ।

यह सब मैं आपके सामने व्यक्त भाषा के रूप में पेश कर रहा हूं । वास्तव में हमारे देश की जनता ने मिलकर और सोच समझकर ऐसा कोई

निश्चय कर लिया है ऐसी बात नहीं है। जनता इस प्रकार विचार और निश्चय नहीं किया करती। अनुभव से यह चीज उसके रक्त में आ गई है।

और सच तो यह है कि हमारे देश की जनता कभी गुलाम हुई ही नहीं। हमारे राजा और राज्यवंश आये और चले गये। हिन्दुओं का राज्य गया और उसके स्थान पर मुसलमानों का राज्य आया। फिर वह भी चला गया और पुन हिन्दुओं का राज्य आ गया। परन्तु जनता की स्थिति में कोई फर्क नहीं हुआ। जबतक हमारी ग्राम-पंचायतें रहीं जनता स्वतंत्र ही रही। जब वे चली गईं तब हम वास्तव में परतंत्र हुए।

मतलब यह कि अनुभव से हमने समझ लिया कि सन्तोष और आनंद से यदि रहना है तो छोटे छोटे राज्य नहीं बनाने चाहिए। और आपस में लड़ना भी नहीं चाहिए। अनुभव ने अहिंसा का यह सिद्धान्त हमारे मले उतार दिया है। शास्त्रीय दृष्टि से अभी हमने उसपर विचार नहीं किया है। और आचार में सिद्ध करना तो अभी बाकी ही है।

अहिंसा पर विचार करते समय हम आहार के प्रश्न को एकदम छोड़ नहीं सकते। निरामिष भोजन अहिंसा के लिए अवश्य ही अनुकूल है। परन्तु केवल इतने से मनुष्य अहिंसक नहीं बन जाता। परन्तु यदि आहार का उचित उपयोग किया जाय तो वह अहिंसा के लिए निःसन्देह पोषक सिद्ध हो सकता है। भारत में मांसाहार का त्याग हमने कोई अपने प्रकृति-स्वभाव से नहीं किया है। हमने अपने आहार का निश्चय भी अनुभव से ही किया है।

आज के यूरोप को देखिये। चालीस वर्ष पहले वहां जितना मांस मिलता था उतना आज नहीं मिलता। प्रतिदिन भोजन के लिए लाखों प्राणी कत्ल होते हैं। दक्षिण अमेरिका से मांस के डिब्बे-के-डिब्बे प्रति दिन वहां आते हैं। इस प्रकार यदि प्रति दिन हम लाखों पशु काटते रहेंगे तो वे कितने दिन चलेंगे? जानवरों की संख्या वहां तेजी से घट रही है। इस कारण मांस भी कम मिलने लगा है। यह देखकर वहां के भी डाक्टर अब हमारी भांति दूध का गुणगान करने लगे हैं।

विशेषता ही प्रकट होती है। कुछ लोग कहते हैं 'लाख सवा लाख अंग्रेज तीस चालीस करोड़ हिन्दुस्तानियों पर राज कर रहे हैं। इतनी भेड़ बकरियों को भी इतने थोड़े आदमी मुश्किल से संभाल पायेंगे।' यह सच है। एक लाख चरवाहे तीस-चालीस करोड़ भेड़ों को नहीं संभाल सकेंगे। क्यों कि वे पशु हैं। परन्तु हमें अधिक व्यवस्थापकों की जरूरत ही नहीं है। क्यों कि भारत व्यवस्थित और सभ्य मनुष्यों का देश है। पहले भी हमें व्यवस्थापकों की कभी जरूरत नहीं रही। आज भी नहीं है। अनुभवसे हमारे खून में ही व्यवस्था आ गई है। आपस में लड़ते रहने में लाभ नहीं है। हिंसा में कल्याण नहीं है। राष्ट्रीय दृष्टि से इतना ज्ञान हमें हो गया है। यद्यपि अभी हिंसा पर से हमारा विश्वास पूरी तरह से नहीं हटा है।

व्यक्ति की दृष्टि से देखेंगे तो भी इस राष्ट्र के और दूसरे राष्ट्र के मनुष्यों में कोई फर्क नहीं है। परन्तु समाज की दृष्टि से देखेंगे तो हमारे राष्ट्र में आप कुछ विशेषता पाएंगे।

हम हजारों वर्षों से परतंत्र हैं। उसका भी एक विशेष कारण है। अल्प सन्तोषी बनकर हम स्वतंत्र होना नहीं चाहते। इस लिए हम परतंत्र हैं। इस विशेषता पर अभिमान भी किया जा सकता है। 'गुलामी पर भी अभिमान' करने की बात सुनकर कुछ लोगों को अवश्य आश्चर्य होगा। अगर हमने अपने प्रान्तों को अलग अलग राष्ट्र मान लिया होता तो हममें से कुछ राष्ट्र आज अवश्य हमें स्वतंत्र दिख सकते थे। परन्तु हमारा तो संकल्प यह था कि हम भारत को एक राष्ट्र सिद्ध करेंगे—फिर कितने ही लम्बे समय तक परतंत्रता में हमें रहना पड़े तो भी हम चिन्ता नहीं करेंगे। आज हम प्रत्यक्ष देखते भी हैं कि छोटे छोटे राष्ट्र कायम के लिए स्वतन्त्र रह भी नहीं सकते। तो इस प्रकार छोटे छोटे राष्ट्र बनाकर अल्प सन्तोषी बनकर हमने स्वतन्त्र होना पसन्द नहीं किया इसी लिए हम परतन्त्र दिखते हैं। इस दृष्टि से हमारी परतंत्रता भी हमारी एक राष्ट्रीयता का चिन्ह है। हमने निश्चय किया है कि हम एक परिवार के रूप में ही रहेंगे।

यह सब मैं आपके सामने व्यक्त भाषा के रूप में पेश कर रहा हूं। वास्तव में हमारे देश की जनता ने विचार कर और सोच समझकर ऐसा कोई

आप कॉलेज के विद्यार्थी हैं। इसलिए मुझे मान ही लेना चाहिए कि वर्तमान स्थिति का ज्ञान आपको जरूर होगा। देखिए, कैसा समय आ गया है। मानव-समाज के पेट में बड़ा जोर का दर्द हो रहा है। पृथ्वी के पेट में भी इसी प्रकार की भयंकर वेदनायें होती हैं और भूचाल जैसे उत्पात होते रहते हैं। इसी प्रकार इन भयंकर वेदनाओं में से कौन से उत्पात होने वाले हैं यह आज कोई नहीं बता सकता। लोगों की कल्पना है कि मानव-समाज का इतिहास दस पांच हजार वर्ष का है। इतिहास की जो किताबें आप लोग पढ़ते हैं उनके अन्दर अधिक से अधिक दो-तीन हजार साल का इतिहास होता है। उसके पहले दो-तीन हजार वर्ष की बातें अनुमान के आधार पर लिखी होती हैं। परन्तु वास्तव में मानव-समाज का इतिहास कम से कम दस लाख वर्ष का है। इस प्रकार जिसे हम इतिहास कहते हैं वह तो मानव-समाज के इतने बड़े इतिहास का केवल ऊपर वाला एक सिरा मात्र है। इस अवधि में जाने कितनी क्रान्तियां हुई होंगी और कितनी बार उसके पेट में दर्द हुआ होगा। परन्तु पिछले इतने सारे इतिहास में निश्चय ही इतना भयानक दर्द तो कभी नहीं हुआ होगा। वर्तमान महायुद्ध में तो सारा संसार ही जैसे शामिल हो गया है। सारा संसार' मैं लाक्षणिक या आलंकारिक भाषा नहीं बोल रहा हूं। हमें याद रखना चाहिए कि सच मुच और अक्षरशः सारा संसार इस महायुद्ध में उलझ गया है। यह सारे संसार का सम्पूर्ण युद्ध है। मैंने इस शब्द का प्रयोग 'टोटल वॉर" के अर्थ में किया है। अर्थात जिस युद्ध में पूरे के पूरे राष्ट्र एक दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं और युद्ध-रत हो जाते हैं। इस पक्ष का पेड़ भी उस पक्ष के पेड़ का दुश्मन बन जाता है एक पक्ष के औजारों अब पदार्थों पुरुषों और स्त्रियों के साथ दूसरे पक्ष के औजारों अब पदार्थों पुरुषों और स्त्रियों की सीधी उल्टी टेढ़ी ऊपर से नीचे से चारों तरफ से हर प्रकार से दुश्मनी हो जाती है। उसमें कोई विधि-निषेध नहीं रह जाते। जिस प्रकार से विजय सम्भव हो वह विधि और जिस प्रकार से पराजय की आशंका हो वह निषेध। इस लिए जब मैं कहता हूं कि इस युद्ध में सारा संसार शामिल है तो इसे आप अक्षरशः सही मानें। परसों ही मैंने एक बात पढ़ी। जो चीज इंग्लैंड के संपूर्ण इतिहास में आज तक नहीं हुई वह हो गई।

१८ वर्ष से ऊपर की जो स्त्रियां विवाहित नहीं हैं अथवा विवाह तो हो गया परन्तु जिनके बच्चे नहीं हैं उनको युद्ध में शरीक हो जाना चाहिए ऐसा वहां एक कानून बन गया है। हिसाब भी लगा लिया गया है कि ऐसी सोलह लाख स्त्रियां मिल सकती हैं। परन्तु इतने से भी उनको सन्तोष नहीं हुआ। कानून में यह भी कहा गया है कि १६ से १८ वर्ष के बीच की जो लड़कियां हैं उन्हें भी युद्ध पर जाने के लिए प्रोत्साहन दिया जायगा। हमारे देश में कहते हैं न-प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्र वदाचरेत्। इसी प्रकार लड़की १६ वर्ष की हुई कि माना जायगा कि वह युद्ध पर जाने के लायक हो गई। उधर रूसने भी ऐसी ही एक मिलती घोषणा की है। कहते हैं कि पिछले पांच महीनों में जो सिपाही लड़ाई के मैदान में मर गये घायल हो गये शत्रु द्वारा कैद कर लिये गये अथवा अन्य प्रकारसे लड़ने के लायक नहीं रहे उनकी संख्या लगभग एक करोड़ होगी। रूस की आबादी अठारह करोड़ है। किसी भी प्रकार से हिसाब लगाकर देखा जाय तो वहां साढ़े चार करोड़ से अधिक पुरुष लड़ाई के लायक नहीं हो सकते। और इन सब को तो लड़ाई में नहीं भेजा जा सकता। युद्ध पर जानेवाले एक सिपाही के पीछे तीन अन्य आदमी तो चाहिये ही हैं। बिजली और पानी का प्रबन्ध सड़कें बनाना हथियार तैयार करना वगैरा अनेक काम रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक युद्ध करने वाला सिपाही और उसके तीन मददगार इस प्रकार हिसाब लगावें तो भी सवा करोड़ से अधिक सैनिक युद्ध पर नहीं भेजे जा सकते। बहुत हुआ तो डेढ़ करोड़ मान लीजिए। इन सवा डेढ़ करोड़ मनुष्यों में से अगर तीन या एक करोड़ मनुष्य काम के लायक नहीं रहे ऐसा मान लें तो अब उनका मनुष्य-बल बहुत कम हो गया। परन्तु फिर भी वे हार नहीं मानने वाले हैं। उन्होंने जाहिर किया है कि जिस पुरुष या स्त्री को संतान नहीं है उन्हें विशेष 'कर' देना होगा। विवाह के उम्र की भी एक मर्यादा बना दी गई है। उस उम्र के अन्दर जो पुरुष या स्त्री विवाह नहीं करेंगे उन्हें भी यह कर देना होगा। सन्तान होने पर ही इस कर से उन्हें छुट्टी मिल सकती है। इसका सीधा अर्थ यही है कि जिससे की जल्दी बच्चे हों। जिस प्रकार टकसाल चालू कर दी जाती है उसी प्रकार मानो

वाले आदमियों की कमी हुई कि मनुष्य पैदा करने की योजना चालू हो जानी चाहिए। जाहिर है कि इस योजना से तत्काल तो लड़ने के लिए मनुष्य नहीं मिलने लग जाते। कम से कम १७-१८ वर्ष तो कम ही जायेंगे–पर उससे क्या होगा? मनुष्यों की कमी न हो यही इस योजना का तात्पर्य है। ऐसी है भयानक स्थिति।

इस भयानक स्थिति में से क्या नतीजा निकलने वाला है? इसमें से जो भविष्यकाल की स्थिति पैदा होगी उसे ये लोग 'नवीन रचना' कहते हैं। आज यह जो विध्वंस का काम चल रहा है यह इनकी इस 'नवीन रचना' की जमीन की सफाई मात्र है। यह ठीक भी है। इस युद्ध के बाद एक नये प्रकार के मानव-समाज की रचना होगी। परन्तु एक बात का हमें अच्छी तरह से विचार कर लेना चाहिए। यह कि हम क्या चाहते हैं? जो अपने आप हो जाय वह या हम जिस प्रकार की योजना बना रहे हैं उसमें से जो निष्पन्न हो वह? यह तो निश्चित है कि मानव-समाज की आज जो स्थिति है, वह युद्ध के बाद कदापि नहीं रह सकती। परन्तु जिन्होंने युद्ध का प्रारम्भ किया उनके लिए युद्ध छेड़ देना तो आसान था। परन्तु युद्ध छिड़ जाने के बाद युद्ध को चलाना या बन्द करना उनके बस की बात नहीं रह जाती। फिर तो युद्ध उन्हें चलाता है। वे युद्धके नियामक नहीं नियम्य बन जाते हैं। युद्धके पीछे-पीछे जाना पड़ता है।

कहते हैं कि हिटलर सबसे अधिक योजना-कुशल है। परन्तु आज का विश्वयुद्ध उसकी योजना के अनुसार नहीं चल रहा है। इसका अर्थ यह है कि इस युद्ध का परिणाम क्या होगा सो कोई नहीं बता सकता। परन्तु इतनी भयंकर बरबादी के बाद जो कुछ बचेगा क्या वह प्राप्त करने लायक भी रह जायगा? क्या होगा कौन जाने! प्रचण्ड भूकंप के बाद यहां का पर्वत वहां और वहां का समुद्र यहां ऐसा कुछ न कुछ होता है। अनेक क्रांतियां होती हैं। परन्तु उनको मनुष्य नहीं लाता। ये क्रान्तियां नियोजित नहीं स्वैर होती हैं। इस प्रकार यदि हम इन युद्धों से कोई इष्ट परिणाम ला सकते हों तब तो इन्हें नियोजित क्रान्ति कहा जा सकता है। अन्यथा अपने आप तो फेर बदल होते ही रहते हैं। तब यह युद्ध क्यों छेड़ा गया? केवल इसलिए

कि वर्तमान स्थिति का अंत हो और दूसरी कोई स्थिति आवे ? इतने संहारक युद्ध को छेड़ना तब सार्थक होता यदि इसमें न कोई निश्चित फल प्राप्त किया जा सकता। सो तो कुछ हो नहीं रहा। आज तो स्पष्ट रूप से यह दिख रहा है कि जो लोग बड़े बड़े माने जाते हैं उनके हाथों में भी यह युद्ध नहीं रह गया है। उल्टे वे ही उसके वश में हो गये हैं। ऐसा भयानक है यह युद्ध ! परन्तु फिर भी उसे स्वीकार कर सकते हैं हजम कर सकते हैं बशर्ते कि उसमें से निश्चित फल की प्राप्ति हो। अन्यथा जो होनहार होगा, सो ही होगा ऐसी ही बात थी तो युद्ध की क्या जरूरत थी ? उस दिन लॉर्ड हैलीफैक्स ने एक बात कही थी। वही सच्ची है। जब किसी ने पूछा—"इस युद्ध का हेतु क्या है ?" तो उसने कहा 'विजय'। पहले तो कहा था कि हम 'लोकतंत्र' के लिए लड़ रहे हैं। परन्तु अब उस की जबान से असल बात निकल पड़ी। और यह दूसरी बात वह भी क्या सकता था ? परन्तु क्या केवल 'विजय' की खुशियां मनाने के लिए ही लड़ाइयां लड़ी जाती हैं ? परन्तु बात यह है कि आरम्भ में लड़ाई का कोई निश्चित उद्देश्य रहा भी हो तो भी अब लड़ाई का चक्र चल जाने पर स्वयं चलानेवाले का हाथ ही उस चक्र में फंस गया है। अब चक्र उसके हाथ में नहीं रहा। तो अगर हम जिस चीज को चाहते हैं यदि वह हमें नहीं मिल सकती तो हम इस युद्ध में शरीक क्यों हों। युद्ध में वह शरीक हो गया वह भी हो गया इस लिए मुझे भी शरीक हो जाना चाहिए। यह तो कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। समझदार मनुष्यों को—मेरा मतलब केवल भारत से ही नहीं संसार के सब समझदार लोगों से है—सोचना तो चाहिए कि जिस युद्ध में से हम इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं कर सकते ऐसे इस निकम्मे स्वैर, बद युद्ध में हम शरीक हों या नहीं। इसका जवाब केवल यही होगा कि 'नहीं होना चाहिए'। शरीक नहीं होना चाहिए यह निश्चय हो जाने के बाद दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि तब क्या हम तटस्थ रहकर केवल तमाशा देखते रहें ? क्या दूर खड़े रहकर तमाशा देखते रहना उचित होगा जब कि हमारे सारे शासक इस युद्ध में उलझ गये हैं और यह उनके हाथ से निकल गया है और उनके सीने पर सवार हो गया है ? इस प्रश्न का

जबाब भी हर समझदार आदमी यही देगा कि तटस्थ होकर तमाश बीन बने रहना भी उचित नहीं।

तो अब दो बातें निश्चित हो गईं। आप कॉलेज के विद्यार्थी हैं। कल संसार आपके हाथों में आनेवाला है। इस प्रश्न पर ठीक से विचार करके आप जवाब दें कि क्या आपको यह बात जंचती है ? हम सबको यह भी भूल जावें कि यह युद्ध अत्यंत हिंसक है। तो दो बातें साफ हो गईं। एक तो यह कि युद्ध मनुष्य के हाथ में नहीं उलटे मनुष्य स्वयं उसके वश में हो गया है ऐसे युद्ध में शरीक होना उचित नहीं। और दूसरे यह कि जो इसमें उलझ गये हैं उनका विनाश निश्चित है। यह हम स्पष्ट रूपसे देख रहे हैं। तब जो अलग रहे हैं उन्हें यह विनाश तमाशबीन की तरह देखते नहीं रहना चाहिए।

चुप चाप नहीं बैठना चाहिए तो फिर क्या किया जाय ? इस प्रश्न पर विचार करने बैठेंगे तब समझ में आएगा कि हम सत्याग्रही आज जो कर रहे हैं वही उचित है। इस युद्ध ने विचार की एक भूमिका तयार की है। इसके विरोध में सद्विचार की दूसरी भूमिका तैयार करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। कुछ लोग पूछते हैं—इतने सारे लोग युद्ध में शरीक हो गये हैं। वहां आप मुट्ठीभर लोग अगर विरोधी प्रचार भी करेंगे तो उससे क्या होगा ? मैं कहता हूं कि इसका नतीजा क्या होगा यह तो बादमें देखा जायगा। परन्तु पहले हम अपने कर्तव्य को तो समझें। युद्ध की भूमिका की विरोधी भूमिका निर्माण करना कर्तव्य सिद्ध होता है न ? यदि कर्तव्य है तो हम वह अवश्य करें। इससे बहुत बड़ा काम हो जायगा। होगा कैसे नहीं ? विरुद्ध भूमिका का सक्रिय विचार तो तैयार कीजिए। विचार की शक्ति में आप को विश्वास क्यों नहीं होता ? केवल विचार की सक्रिय भूमिका तैयार कर देने से युद्ध का निराकरण हो जायगा यह मैं नहीं कह रहा हूं। मैं ऐसी अपेक्षा भी नहीं करता। परन्तु समझदार आप यदि विरुद्ध विचार की एक भूमिका तैयार कर देंगे तो वह मानसिक शक्ति का एक मोर्चा बन जावेगा। और जब कभी युद्ध बन्द या शिथिल होगा तब आपकी विचार भूमिका एक जाग्रत शक्ति बन जायगी और संभव

है तब मानव-समाज की नवीन रचना करने का नेतृत्व और जिम्मेवारी आपके हाथों में आ जाय। क्या इसके लिए आज से ही तैयारी में लग जाना उचित नहीं है? परन्तु जब यह तैयारी करने जाते हैं तो सरकार कहती है कि हम आपको यह नहीं करने देंगे। परन्तु हम तो मानते हैं कि ऐसा मार्ग तैयार करना हमारा कर्तव्य है कि जो युद्ध समाप्ति के बाद परिस्थिति को एक निश्चित मार्ग से ले जा सके। क्यों कि वे आपके लोग युद्ध में उलझ गए हैं। युद्ध इनके हाथों से निकल गया। निश्चित परिणाम का अब कोई संभावना नहीं रह गई है। इस लिए जो बाहर हैं उनका कर्तव्य यही है कि युद्ध-प्रतिकार की भूमिका तैयार करें। क्यों कि युद्ध समाप्त होने पर इनके शरीर और बुद्धि भी थक जावेगी। और अधिक तो बुद्धि ही थकेगी। तब स्वभावतः सब आपसे मार्ग-दर्शन की आशा करेंगे। इस लिए इसमें संख्या का प्रश्न ही नहीं है। जिसकी बुद्धि सही सलामत होगी वही मार्ग-दर्शन करने का अधिकारी होगा। निर्मोहित समाज-रचना करने की जिम्मेवारी उसी के सर पर आनेवाली है। इस लिए उसका कर्तव्य हो जाता है कि अभीसे युद्ध-विरोधी भूमिका तैयार करे।

परन्तु इस कर्तव्य का पालन हमें सुखसे कौन करने देगा? वर्तमान राज्यकर्ता और प्रबन्धक हमारा दमन और दमन अवश्य ही करेंगे। परन्तु यदि वे ऐसा करें तो वह एक अन्याय ही सिद्ध होगा। और यदि अन्याय हो तो उसे तो कदापि सहा नहीं जाना चाहिए। गांधीजी ने जो पाठ इस संसार को पढ़ाए हैं। एक तो यह कि अन्याय को कभी नहीं सहना चाहिए। और दूसरा यह कि अन्याय का प्रतिकार अन्याय से या हिंसासे नहीं दूसरे ढंग से किया जाय। उनकी यह दूसरी सिखावन अगर संसार ने ग्रहण करली होती तो आज यूरोप की सूरत दूसरी ही होती। रिबनट्राप कहता है न कि अब यूरोप में शान्ति भंग होने का कोई कारण ही नहीं रहा। क्यों कि सारे यूरोप को निःशस्त्र कर दिया गया है। और कोई लड़वाकी नहीं है इस लिए जर्मनी के टैंक चारों तरफ घूम रहे हैं। इन उन्मत्त लोगोंने यह सब अंग्रेजों से ही सीखा है। अंग्रेजोंने भी भारत को

निःशस्त्र कर दिया और सोचा कि अब हम आराम से सुख की नींद सो सकते हैं। क्यों कि इनके पास शस्त्र नहीं और हम अस्त्रशस्त्रों से लैस हैं। अब जो चाहे कर सकते हैं। यही बात अब भी चल रहा है। यही सूत्र थोड़े बहुत फेरफार के साथ सर्वत्र बरता जा रहा है— प्रजाजनों को निःशस्त्र करना और व्यवस्थापकों का शस्त्रों से लैस हो जाना।

कार्ल मार्क्स ने एक सिद्धान्त स्थापित किया है। वह आप सुनेंगे तब गांधीजी के विचारों की महिमा आपकी समझ में आ जायगी। कार्ल मार्क्स का नाम तो आप जानते ही हैं। उसकी लिखी किताबें भी शायद आपने पढ़ी होंगी। उसका सिद्धान्त यह है कि संसार में जो भी कोई प्रमेय काम करता है उसके साथ लाभ और हानि दोनों लगे होते हैं। जब तक उससे लाभ की मात्रा अधिक और हानि की मात्रा कम होती है तब तक तो वह प्रमेय चलता है। परन्तु जब हानि की मात्रा बढ़ जाती है तब उसका विरोधी एक नया प्रमेय संसार में आता है और यह दूसरा प्रमेय पहले प्रमेय पर आक्रमण करता है। इस आक्रमण के अन्दर से एक तीसरा ही तत्त्व सामने आता है। इस में दोनों के दोष निकल जाते हैं और केवल गुण ही बच रह जाते हैं। एक उदाहरण लें। समाज में अलग अलग कार्यक्षमतावाले समूह होते हैं। उनको उनकी अलग अलग भूमिका के अनुसार काम सौंपा जाता है। इसीको वर्ण-व्यवस्था कहा गया है। इसमें गुण-दोष दोनों होंगे ही। परन्तु जब तक गुणों का प्रमाण अधिक रहेगा तबतक वह चलेगी। परन्तु जब ऊंच-नीच भाव एक दूसरे के विरोधी भाव वगैरा दोष उसके अन्दर बढ़ेंगे तब अभेद अभेद' समानता समानता' का नारा बुलन्द होगा। इन दोनों का युद्ध होगा और अन्त में वर्ण-व्यवस्था के गुण और अभेद के गुण दोनों को मिलाकर एक तीसरी व्यवस्था जन्म लेगी। हम नींबू के पौधेपर मोसम्बी की कलम लगाते हैं न? इसमें नींबू की खटाई और मोसम्बी की मिठास को लेकर एक तीसरा ही खट-मीठा फल– सन्त्रा– पैदा हो जाता है। ऐसी है यह बात। परन्तु यह सामाजिक प्रक्रिया योजना पूर्वक ही होती है ऐसी बात नहीं है। अपने आप ही होती है।

किसी तत्त्व के अन्दर जो दोष होते हैं वे बढ़ते बढ़ते उसीको खा जाते हैं। जैसा कि बुद्ध भगवान् ने कहा है— 'तदुट्ठाय तमेव खादति'। उसी में से पैदा होकर उसी को खा जाता है। इस प्रकार प्रतिकार की यह नई प्रक्रिया इतिहास के गर्भ से ही निकली है। इसका निमित्त गांधी हुआ है। अबतक की पद्धति यह रही है कि शस्त्रधारियों को परास्त करके मनुष्य खूब अधिक संगठित और शस्त्र सज्ज होता रहा है। इसके बाद यह तरकीब निकली कि सामनेवाले को पूरी तरह निःशस्त्र करके हम खुद शस्त्र-सज्ज हो जायें। और अब इन शस्त्रहीन लोगों को प्रतिकार की एक नई पद्धति सूझ गई। और इसमें गांधी निमित्त बन गया। परन्तु यदि वह नहीं होता तो दूसरा कोई निमित्त बन जाता। १०-१५ करोड़ लोग यदि सदा के लिए गुलाम बनकर पड़ रहें तो वे मनुष्य नहीं कहे जा सकते। और यदि वे मनुष्य हैं तो उनकी स्वतंत्रता का कोई न कोई उपाय होना ही चाहिए। यह उनको सूझ जाय इसी में उनकी मानवता है। इस सिद्धान्त को वितर्कवाद कहते हैं। सामान्य तर्क से इसमें कुछ विशेषता है इसलिए इसे वितर्क की पारिभाषिक संज्ञा प्राप्त हुई। मूल तर्क का विरोधी तर्क सामने आता है। फिर नये-पुराने का समन्वय होकर तीसरा तर्क निकलता है—यह है वितर्क की प्रक्रिया।

जिन लोगों ने संपूर्ण राष्ट्र को निःशस्त्र कर दिया और जिसपर उसके बचाव की जिम्मेवारी अपने सिर पर ली उन्होंने निःसन्देह बड़ा खतरनाक प्रयोग किया है। आज इंग्लैंड के लोगों को अपनी इस भूल पर जरूर पछितावा हो रहा होगा। इसीलिए तो वे अब कह रहे हैं कि युद्ध पर चलिए हम आपको शस्त्र चलाने की शिक्षा देंगे। परन्तु कहना होगा कि उनका यह प्रयोग बड़ा लाभदायक ही सिद्ध हुआ। क्यों कि हम निःशस्त्र थे इसी कारण तो प्रतिकार का यह नया प्रयोग हमें सूझा। इसीलिए जब गांधी बोलता है तो उसके मुखसे सारे भारत की जनता बोलती है। बीस वर्ष तक उन्होंने इस शस्त्र की महिमा लोगों को सिखाई। और क्या तलवार में भी कोई स्वतंत्र बल है? पर लोग समझते नहीं। तलवार भी तो आखिर है तो लोहा ही न! खान में पैदा होता

है और उसे एक निश्चित आकार दे दिया गया। पर है तो आखिर जड़ लोहा ही। लकड़ी और मिट्टी में क्या कोई फर्क है ? उस शस्त्र के पीछे चेतन शक्ति आ जाती है तभी उसमें बल आता है। नहीं तो शस्त्र तो जड़ ही होता है। चेतन-शक्ति को हटा देते हैं तब तलवार या बन्दूक खुद-ब-खुद कुछ भी काम कर नहीं सकती। पहले यह बात किसी के ध्यान में नहीं आई थी। परन्तु परिस्थिति की प्रेरणा ने गांधी को सुझाया कि आखिर शस्त्रों के पीछे भी तो चेतन शक्ति ही काम करती है। चैतन्य न हो और केवल शस्त्र हो तो कभी कभी मजा हास्य हो जाती है इसका उदाहरण के रूप में हमारे एक मित्र एक कहानी कहते हैं। किसी आदमी के यहां चोर आये। उन्हें देखकर वह घबरा गया और लगा चिल्लाने अरे मेरी बन्दूक लाओ बन्दूक। बन्दूक शब्द भी वह बेचारा ठीक से नहीं बोल सकता था। ऐसा आदमी बन्दूक का क्या करेगा ? हां चोरों को लेकर उसका उपयोग हो सकता है। मतलब यह कि शस्त्रों में अपनी कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं होती। यह पुरुषदर्शन पहले किसी को नहीं सूझा था। परिस्थिति-निरपेक्ष कल्पना सहसा किसी को नहीं सूझती। गांधीजी को यह सूझ गई। इसे उनकी बुद्धि की विशेषता भी माना जा सकता है। परन्तु इसके सूझने का मुख्य कारण भारत की परिस्थिति ही है। गांधीजी की इस कल्पना पर हमने पिछले तीस वर्ष में कुछ टूटा फूटा अमल किया और उससे हमें इतना तो अनुभव हुआ कि इस प्रकार निःशस्त्र होने पर भी लड़ा जा सकता है।

परन्तु लोग पूछते हैं इसका परिणाम कितना हुआ है ? मैं कहता हूं 'अरे परिणामवाला जरा सब्र तो करो। आपने देखा है कि दस दस हजार वर्ष से हिंसाके प्रयोग हो रहे हैं। और क्या अब भी कुछ करना बाकी रहा है ? इतने वर्ष हो गये फिर भी बारबार शस्त्रों की शरण लेनी ही पड़ती है न ? बचपन में हम रटते थे कि नटनीवाला जिस तरह हररोज घिस घिस चीकना है। इसी प्रकार हजारों वर्ष बीत जाने पर भी इनकी तलवारें अभी घूटी नहीं है। इन लोगों को यदि इतना समय और अवसर दिया तो हमें तो अभी केवल तीस वर्ष ही हुए हैं। हमारे प्रयोगों को भी

कुछ सम्बन्ध देते था नहीं ? नागपुर जेल में भी हमारे बीच नहीं चर्चा चलती थी । वहाँ सब के सब सत्याग्रही ही थे मिथ्याग्रही कोई नहीं था। वहाँ हम सोचते थे कि हमारे जैसे अधूरे और कमजोर साधकों को लेकर जो प्रयोग किया गया अथवा प्रयोग का केवल बहाना किया यदि उसका इतना या जितना भी कुछ हुआ हो–परिणाम हो सका तब यदि यह वस्तु स्वयं अपने शुद्ध रूप मे प्रकट हो सकी तो उसका परिणाम कितना प्रचण्ड होगा ? यह हजार वर्ष तक हिंसा के प्रयोग करने पर भी उसकी आज यह हालत है । परन्तु टूटे-फूटे कमजोर और अधूरे साधनों को लेकर बीस वर्षों में हम इतना प्रतिकार कर सके । तब हमें क्यों न कुछ आशा रखनी चाहिए ? कम से कम इतनी शंका तो हमारे दिलों में पैदा हो कि कदाचित् हिंसा असफल हो सकती है और अहिंसा के मार्ग से ही बहुत अधिक काम हो जाय । इतनी सी शंका भी आपके दिल में यदि उत्पन्न हो सकी तो मै समझूंगा कि मेरे इस भाषण ने बहुत बड़ा काम कर डाला । *

समग्रता की सुन्दरता ११

मेरे परम प्रिय मित्रो

मुझे जब कहा गया कि इस विद्यालय का उद्‌घाटन मुझे करना चाहिए तो उसे स्वीकार करते हुए मुझे बड़ा संकोच हुआ । क्यों कि उद्‌घाटन-समारम्भ एक प्रकार से केवल समारंभ ही माना जाता है । उद्‌घाटन करनेवाले पर उसकी कोई जिम्मेवारी नहीं होती । परन्तु मेरी स्थिति ऐसी नहीं है । मै इस विद्यालय का उद्‌घाटन करूं इसका अर्थ यह है कि इस के संचालन की जिम्मेवारी उठाने में मै भी हाथ बटाऊं । यह भार ऐसा नहीं कि जिसे स्वीकार करनेसे मै प्रेमपूर्वक इन-कार कर सकूं । इस लिए मै यहां आ गया ।

वासुदेव आर्ट्स कॉलेज वर्धा के स्नेहसम्मेलन के अध्यक्ष-पद से ता ८ १२ ४१ को दिया गया भाषण–ग्राम-सेवा-वृत्त दिसम्बर १९४१

परन्तु मेरे संकोच का एक और भी कारण यह है कि मैं वाणि जारम्भू हूं । वाणिज्यों के बारे में एक प्रसिद्ध वचन है कि वे आरंभशूर होते हैं। परन्तु मैंने इस वचन का मिथ्या साबित करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है । बुद्धि के लक्षणों के संबंध में हमारे पूर्वजों ने कहा है कि—

> अनारम्भो हि कार्याणां प्रथमं बुद्धि-लक्षणम्
> आरब्धस्यान्त-गमनं द्वितीयं बुद्धि-लक्षणम् ।।

परन्तु इस कार्य का आरम्भ करके हमने पहले लक्षण को तो तोड दिया है । तो अब दूसरे लक्षण का तो पालन कर के दिखा दें । काम शुरू कर दिया है तो अब उसे किसी भी तरह पूर्णता तक पहुंचा देना चाहिए ।

अभी तक जितना भी काम हुआ है उससे हमें एक दृष्टि मिली है । दृष्टि बड़ी कठोर देवता है । वह पहले से दर्शन नहीं देती । काम करते-करते उसका दर्शन होता है । जिन्होंने पर्वतों पर चढ़ने का प्रयत्न किया है वे जानते हैं कि जैसे-जैसे ऊपर चढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे दृष्टि विशाल होती जाती है । यह उसकी विशेषता है ।

इस विद्यालय को समग्र-ग्राम-सेवा विद्यालय कहा गया है । समग्रता में सौंदर्य है ।

किसी सुन्दर बालक के एक-एक अवयव को देखेंगे तो उसमें सौंदर्य नहीं दिखेगा । उदाहरणार्थ यदि हम केवल उसकी नाक को ही देखें तो वहां हमें सृष्टि की भयंकरता दिखेगी । परन्तु संपूर्ण बालक सुन्दर ही दिखेगा । गीता में भी भगवान् ने समग्र दर्शन की सिफारिश की है । अधूरा ज्ञान हमें निर्भयता नहीं प्रदान कर सकता । इसलिए केवल खादी के काम से काम नहीं चल सकता । जीवन की अन्य सब बातों की तरफ भी ध्यान देना जरूरी है ।

परन्तु इस समग्र दर्शन में भी एक खतरा है । हम जिसे समग्र कहते हैं वह एक निर्गुण जैसी चीज बन जाती है । यह बात मैं अपने अनुभव से कह रहा हूं । १०-१२ वर्ष पहले समग्र-ग्राम-सेवा की दृष्टि से ही कार्यकर्ताओं को मैंने गांवों में काम करने के लिए भेजा था उन्होंने

मुझसे पूछा कि हमें क्या करना चाहिए? अब मैं क्या उत्तर देता? मैंने कहा घूमते रहिए।

> 'कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
> उत्तिष्ठन् त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन् ।।'

इसलिए श्रुति कहती है कि चलते रहो। केवल घूमते रहने से भी सत्य का दर्शन हो जाता है। इसलिए वे लोग घूमने लगे।

कई महीने इस तरह घूमते रहे। घूमने का लाभ भी उन्हें स्पष्ट दिखने लगा। चेहरेपर तेज चमकने लगा। सत्ययुग का परिणाम प्रकट होने लगा। परन्तु यह भी प्रकट होने लगा कि केवल समग्रता के इस प्रकार के प्रयोग से काम नहीं चलेगा। हमारे पूर्वजों ने कहा है कि एकै साधे सब सधै सब साधे सब जाय। कुछ दिन कताई, कुछ दिन तेलघानी और कुछ दिन नई तालीम। इस प्रकार काम किया जायगा तो सब गड़बड़ हो जायगा जैसे आकाश। संस्कृत में आकाश को शून्य कहते हैं। जो पूर्ण रूपसे व्यापक बनने का प्रयत्न करेगा वह शून्य बन जायगा। इसलिए एक-एक विषय का शिक्षण ही पूर्ण करना चाहिए।

और भी एक बात है। अभी श्रीनरहरिभाई ने अपने भाषण में कहा कि आपको यहाँ दृष्टि मिलेगी। फिर आप जब स्वतः काम करने लगेंगे तब अधिक अनुभव होने लगेगा। यह सही है। परन्तु यह दृष्टि भी यहाँ आपको तभी प्राप्त होगी जब इस विद्यालय में आप जो कुछ करेंगे वह जिनकी सेवा आप करना चाहते हैं, उनसे एकरूप होकर करेंगे। अन्यथा जल से बाहर रहकर तैरना सीखने जैसी बात हो जायगी। तैरने का संपूर्ण एन्साइक्लोपीडिया–ज्ञान कोष–पढ़ जाने पर भी आदमी जल में डूब सकता है। इसलिए हमारे नई तालीम के सिद्धान्त के अनुसार हमें काम करते-करते ही सीखना चाहिए। जिस प्रकार प्रैक्टिसिंग स्कूल के बगैर ट्रेनिंग कालेज नहीं चल सकता उसी प्रकार प्रति दिन ग्राम-सेवा का कुछ न कुछ काम यदि आप नहीं करेंगे तो समग्र ग्राम-सेवा के शिक्षण का काम नहीं उठा सकेंगे।

तीसरी बात एक छोटी सी सूचना के रूप में मैं आपसे कहना चाहता हूं। वह यह कि आज आप महाराष्ट्र में आकर रह रहे हैं। और यहां की भाषा मराठी है। इसलिए आपको मराठी भाषा भी सीख लेनी चाहिए। उर्दू तो आप सीखेंगे ही। क्यों कि उसके बारे में बापूजी ने बहुत कुछ कहा है। हिन्दी भी सीख लेंगे क्यों कि वह राष्ट्रभाषा है। परन्तु आप लोग मराठी नहीं सीख रहे हैं। यहांपर अनेक अखिल भारतीय संस्थाएं हैं। तमिलनाड और केरल के लोग भी यहां आते रहते हैं। परन्तु यहांके लोगों की भाषा यदि आप नहीं सीखेंगे तो अंग्रेजों के समान सेवा के नामपर आप केवल मेवा ही खाएंगे सेवा तो कुछ होगी नहीं। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम अपने आस पास की भाषा भी सीखें।*

अहिंसा का सिद्धान्त और व्यवहार १२

प्रश्न १–पूर्ण अहिंसा की आपकी कल्पना क्या है ?

उत्तर–अहिंसा की पूर्ण कल्पना आज नहीं की जा सकती। आज तो हम केवल इतना ही सोच सकते हैं कि अहिंसा की दिशा में हम कहांतक और किस पद्धति से जा सकते हैं। हमारी अहिंसा की कल्पना अभी मनुष्य समाज से आगे नहीं बढ़ी है। यों देखा जाय तो अहिंसा को केवल मनुष्य समाज तक ही सीमित रखने का कोई कारण नहीं है। और इस मर्यादा में रहकर उसको भी समाधान नहीं होगा। संपूर्ण सृष्टि को जब वह अपने अन्दर समाविष्ट कर लेगी तभी उसे समाधान होगा। दिशा-दर्शन के रूप में हम केवल इतना कह सकते हैं कि निर्भयता समता और दया भाव इन गुणों के विकास से अहिंसा पूर्ण हो सकती है।

* सेवाग्राम में ता २ १०-१९५५ को समग्र-ग्राम-सेवा विद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर दिये गये भाषण का सारांश

‡ समग्र-ग्राम-सेवा विद्यालय में काशी विद्यालय के प्रवासी विद्यार्थियों के साथ हुई बातचीत ता २१ १०-५५

निर्भयता—हम किसी से भी न डरें न डरने लायक किसी के पास कुछ होता ही है। आत्मा अमर है और शरीर बाहरी रूप है। उसमें आत्मा छिप नहीं जाती। हम जिसे पशु कहते हैं वह भी परिपूर्ण आत्मा का ही रूप होता है। इसलिए अपने में और दूसरे में भेद करने का कारण नहीं है। माँ अपने बच्चे के साथ एकरूपता का अनुभव करती है। उसकी यह अनुभूति व्यापक नहीं। परन्तु दृष्टान्त के रूप में उसे बताया जा सकता है। इस एकरूपता का अनुभव हमें भी करना चाहिए। फिर डरने लायक कुछ नहीं रह जायगा। हिंसावादियों ने एक से एक बढ़कर संहारक शस्त्र बनाये हैं। परन्तु जब वे देखेंगे कि सामनेवाला समाज डर ही नहीं रहा है, तब इनके हाथ से शस्त्र गिर पड़ेंगे।

समता—हममें ऊँच-नीच भाव बहुत है। श्रमिकों को हम नीचा समझते हैं। उनसे लाभ (अनुचित) उठाने की उनपर उपकार करने की हमारी वृत्ति रहती है। हम अपने आपको उनका आश्रयदाता समझते हैं। यह सब गलत है। हमें परिश्रम-निष्ठ होना चाहिए। कोई न कोई उत्पादक श्रम करना चाहिए। उसके बगैर कम-से-कम मैं तो किसी को आदर नहीं दूंगा फिर वह न्यायाधीश हो या प्रोफेसर। शारीरिक श्रम के बगैर अहिंसा सिद्ध हो ही नहीं सकती। मानव की मानवता श्रम में ही है। किसी के कन्धेपर सवार होकर आप उसकी सेवा नहीं कर सकते। और अभीतक बोझ नहीं करते रहे हैं। किन्तु अब यह नहीं चलेगा। जबतक आप स्वयं मजदूर नहीं बनेंगे तबतक मजदूरों की सेवा आप नहीं कर सकेंगे।

दया—कहीं भी अन्याय देखते ही हमें क्षोभ आता है और हम उसका प्रतिकार करने का विचार करने लग जाते हैं। क्षुब्ध होकर जो प्रतिकार किया जाता है, वह हिंसा ही है। फिर हमने शस्त्रों की सहायता ली हो या न भी ली हो। शिक्षक को विद्यार्थी के अज्ञान पर दया आती है। अन्याय के प्रतिकार में इस प्रकार की दया होनी चाहिए। क्योंकि आदमी से जब कभी भूल होती है तब मोह या अज्ञान के कारण होती है। इसलिए दोष का निवारण या प्रतिकार में द्वेष की भावना नहीं आनी चाहिए। वहां दया की आवश्यकता होती है। इस प्रकार इन तीन गुणों के विकास से अहिंसा का दर्शन हो सकता है।

प्रश्न १—गांधीजी के ट्रस्टीशिप के बारे में आपकी क्या राय है ?

उत्तर—गांधीजी पुराने शब्दों का प्रयोग करते हैं इसलिए गलत-फहमी को मौका मिल जाता है। मैं इस शब्द का उनके जितना उपयोग नहीं करता। उनका जन्म पुराने जमाने में हुआ था। पर मैं तो इस युग में पैदा हुआ हूं।

ट्रस्टीशिप बड़ा विचित्र शब्द है। इसका प्रयोग चर्चिल ट्रूमन और टोजो भी कर सकता है। यह जमाना शब्द इतना निकम्मा हो गया है कि इसमे नया अर्थ भरना लगभग असंभव हो गया है। फिर भी हमको अहिंसक विचार से सद्भावना-सूचक पुराने शब्दों को स्वीकार करना चाहिए। तदनुसार गांधीजी ने इस शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थ में किया है। आज के समाज मे कुछ लोगों को दूसरे के मार्ग-दर्शन और रक्षण की जरूरत कदम-कदम पर होती है। प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रवदाचरेत् इस वाक्य के अनुसार लड़के को कम-से-कम पन्द्रह वर्ष की उम्र तक तो ऐसे संरक्षण की जरूरत रहती है। इस अवधि मे बच्चों के ट्रस्टी माता-पिता ही होते हैं। समाज की रचना में हम चाहे कितना ही परिवर्तन करें फिर भी बच्चो के ट्रस्टी तो माता-पिता ही रहेंगे। हां अपने पैरों पर खड़े हो जाने के बाद उन्हे अपने माता-पिता के सलाह की जरूरत शायद न भी रहे। अब यह विचार संपूर्ण मानव-समाज को यद्यपि लागू नही किया जा सकता फिर भी मैने यह उदाहरण इसलिए लिया कि इस प्रकार की सलाह की जरूरत समाज को सदा बनी रहेगी। बचपन में बच्चों को अपने बड़ों से जिस प्रकार संरक्षण मिलता है उसी प्रकार बड़े होने पर वे अपने बच्चों को ऐसा संरक्षण देंगे। मेरे मत से ट्रस्टीशिप का अर्थ यही है।

सारी जायदाद (इस्टेट) सार्वजनिक मान ली जाय और उसकी व्यवस्था के बारे मे कुछ नियम बना लिये जाय। अगर ट्रस्टी इन नियमों के अनुसार जायदाद की देखभाल न करे तो उनकी ट्रस्टीशिप रद कर देने का अधिकार जनता को होना चाहिए। जिनके पास संपत्ति है वे यदि इस संपत्ति का उपयोग सार्वजनिक काम के लिए नहीं करते हैं तो

उनके पास से यह धन-दौलत छीन ली जाय। मैं मानता हूँ कि ट्रस्टी की परिभाषा में यह बात गृहीत मान ली गई है। परन्तु इस छीन लेने की प्रक्रिया में हिंसा का स्थान न हो। यदि किसी के पास एक हजार एकड़ जमीन है तो उसकी काश्त वह अकेला तो कर नहीं सकता। उसे इसमें दूसरे की सहायता लेनी ही पड़ेगी। तो मैं कहूँगा कि कोई भी मजदूर आठ घंटे से अधिक काम न करे। और वो रुपये रोज से कम मजदूरी न ले। तब मालिक को खेती में कोई बचत नहीं होगी। वह खेती करना खुद-ब-खुद छोड़ देगा और या तो अपनी जमीन को लोगों में बांट देगा या सरकार को सौंप देगा। सरकार भी वह जमीन स्वीकार कर लेगी। हाँ यदि जमींदार चाहेंगे कि जमीन कि काश्त तो किसान करें और वे केवल सलाह देते रहें तो मैं वह जमीन उनके नामपर भी रहने दे सकता हूँ। उनकी व्यवस्था-शक्ति का उपयोग मैं कर लूँगा। सरकार की तरफ से उस जायदाद के व्यवस्थापक के तौर पर वे काम कर सकते हैं। परन्तु अगर उनकी वृत्ति ठीक नहीं होगी तो सारी जमीन उनके पास से ले ली जायगी।

प्रश्न ३—परन्तु कानून भी तो हिंसा ही है न?

उत्तर—नहीं। जो कानून लोकमत को प्रकट करता है और अच्छा भी है वह अहिंसा का ही चिन्ह है। हाँ फौज के बल पर बनाया और लादा गया कानून जरूर हिंसा का रूप माना जायगा। उदाहरण के लिए कोई चोरी न करे यह कानून हिंसात्मक नहीं। शराब-बन्दी की बात लीजिए। अमेरिका में भी चुनाव वेट (शराब) और ड्राय (शराब-बन्दी) इन सिद्धान्तों के आधार पर होते हैं। इस समय वहाँ 'वेट' वालों का राज है। भारत में शराब-बन्दी के अनुकूल इतना जोरदार लोकमत है कि शराब-बन्दी का कानून हिंसा नहीं गिना जायगा। परन्तु कानून के द्वारा की गई शराब-बन्दी अमेरिका में अहिंसा की मर्यादा में नहीं मानी जाएगी।

प्रश्न ४—परन्तु जमीन पर स्वामित्व किसका होगा?

उत्तर—यह प्रश्न ठीक नहीं। क्यों कि अंत तक बचता कौन है? न खेत को जोतनेवाला रहता है और न मालिक। बचती है जमीन। और

वही हम सबकी स्वामिनी है। हवा पर किसकी सत्ता है? जिसके नाक हो वह हवा ले। परन्तु हवा स्वयं स्वतंत्र है। इस विषय में तो यही कहा जा सकता है कि जो जमीन की सेवा करेगा उसकी वह मानी जाय। जमीन पर किसीकी सत्ता नहीं होगी। इसलिए जरूरत से अधिक जमीन रखने अथवा उसके स्वामित्व का निश्चय करने का प्रश्न ही नहीं उठता। आज मैं यह नहीं कहूंगा कि जमीनें छीन लो। उचित किन्तु कमसे कम जमीन का मुआवजा देने के लिए मैं तैयार हूं। इतने से जमीनदारों को यदि सन्तोष नहीं होगा तो मैं कहूंगा कि 'काम करो'। और वे काम करने के लिए भी तैयार नहीं होंगे तो मैं उनकी सारी जमीन सरकार में ले लूंगा और लोगों को उनकी जरूरत के अनुसार बांट दूंगा।

प्रश्न ५—परन्तु जिन्होंने आजतक जमीन का दुरुपयोग किया उनके पास जमीन क्यों रहने दी जाय?

उत्तर—यह तो मानना पड़ेगा। इन लोगों के पूर्वजों ने चाहे कुछ भी नहीं किया हो। परन्तु इनकी बुद्धि-शक्ति का उपयोग हम अवश्य कर सकते हैं। पुराने सिक्कों को ट्रेनिंग देकर जिस प्रकार हम मूलोद्योगी शिक्षण में उनका उपयोग कर सकते हैं इसी प्रकार इन पुराने मालिकों का भी मैं उपयोग कर सकता हूं। हां, ट्रेनिंग देनेपर भी यदि वे उपयोगी सिद्ध नहीं होंगे तो बात दूसरी है। परन्तु उन्हें मौका तो देना ही चाहिए न? अगर वे समय को नहीं पहचानेंगे तो सर्वस्व खो बैठेंगे।

प्रश्न ६—परन्तु इसके विषय में लोगों में जाग्रति कैसे की जाय?

उत्तर—यह ठीक है। जमीनदारी का खात्मा करने की बात कहकर यदि जाग्रति की जा सकती है तो उनका उपयोग कर लेने की अहिंसात्मक बात भी उन्हें समझाई जा सकती है। और जबतक स्वयं मजदूर बनकर आदमी मजदूरों में काम करने नहीं लगेगा तबतक मजदूरों में जाग्रति नहीं हो सकेगी। और जब हम स्वयं मजदूरी करने लगेंगे तब मजदूरों का वेतन अपने आप बढ़ेगा ही। पढ़े-लिखे लोग भंगी का काम करने लगेंगे तो भंगियों का वेतन बढ़ेगा लोगों को स्वच्छता की शिक्षा मिलेगी और कानून भी बनेंगे। सुधार नीचे से होगा। हम मजदूर बनेंगे तो मजदूरों में

जागृति होगी। इस प्रकार पढ़े-लिखे लोग मजदूर बन जायेंगे तो मजदूरों का जीवन ऊंचा उठेगा और मालिक भी मजदूर हो जायेंगे।

प्रश्न ७— गांधीजी कहते हैं कि जमीन उसीकी हो जो जोते। यह अहिंसा से कैसे होगा?

उत्तर— इसमें शंका की क्या बात है? यह तो गांधीजी ने शान्ति की बात कह दी। लोग कहेंगे कि जमीन सारे गांव की है। सब मिलकर जोतें। जमीन का मालिक बनकर यदि कोई सामने आएगा तो उसे भी कहेंगे कि काम कर और खा। जमींदार आज लगान का बहुत-सा हिस्सा खुद रख लेता है। यह रिश्वत है। गांववाले लगान देने से इनकार कर देंगे तो जमींदार लाचार होकर सरकार से कह देगा कि मुझे जमींदारी की जरूरत नहीं है। असल बात तो यह है कि राष्ट्रीय सरकार— जनता की सरकार होगी। इसलिए सारी जमीन जनता की ही होगी। जमीन का बंटवारा भी सरकार अर्थात् जनता ही करेगी। और उसके बारे में नियम या कानून जो कुछ बनाने होंगे सरकार अर्थात् जनता ही बनायेगी।

प्रश्न ८— तब रूस और भारत में फर्क क्या रहेगा?

उत्तर— फर्क यह रहेगा कि हम उनसे बातचीत करेंगे। उनकी कठिनाइयां समझने की कोशिश करेंगे और उन्हें दूर करेंगे। जमीन के मालिक बनने या उस पर हक्क बताने का साहस हमारे यहां कोई नहीं करेगा। परन्तु रूस में जिस प्रकार लोग खोपड़ियां खोलने के लिए तैयार होंगे ऐसा हम यहां नहीं करेंगे। बेशक रूस का रास्ता 'शॉर्ट कट' नजदीक का रास्ता है। परन्तु मैं तो मानता हूं कि यह "शॉर्ट कट" बड़ा 'लांग' याने लम्बा है। रूस ने जर्मनी को हराया। परन्तु अब तो स्वयं वही जर्मनी बन रहा है। अन्त में हमारी सरकारें भी उनकी ट्रस्टी बनेंगी और जमींदारों की अन्य जिम्मेदारियां उठा लेंगी।

प्रश्न ९— परन्तु अन्त में सत्ता का हस्तान्तर ठीक ढंग से कैसे होगा?

उत्तर— सत्ता के हस्तान्तरण का अर्थ यह नहीं कि किसी एक सर्वाधिकारी के हाथों में सारी सत्ता सौंप दी जाय। सामान्य जनता में जन्मे

बूढ़े स्त्रियाँ–सब का समावेश होता है। उनके पास कौनसी शक्ति है? किसी खास वर्ग में जो बुद्धि होती है वह सामान्य जनता में नहीं होती। इसलिए यदि हिंसा को स्थान देंगे तो एक वर्ग को सदा पराधीन ही रहना पड़ेगा। स्त्रियों को पुरुषों के अधीन और बच्चों को बड़ों के अधीन रहना होगा। हिंसा-मार्ग में बच्चों और बूढ़ों का कोई उपयोग नहीं होता। रूस में आखिर डिक्टेटरशिप ही जारी है। स्टेलिन और अकबर में क्या फर्क है? आखिर लोग यही तो कहेंगे कि स्टेलिन भी एक अच्छा बादशाह है।

सच पूछिए तो स्वराज्य बहुत आसान है। केवल लोगों के समझलेने की बात है। लोगों का लगान और कवाल देना बन्द किया कि सरकार ठप। तब लोगोंपर बम जरूर बरसाये जा सकते हैं। पर वे कहां कहां कितने लोगोंपर बरसाएंगे? केवल बम्बई-पूना में रहनेवाले मुट्ठीभर आदमियों पर! गांवों में रहनेवाली असंख्य जनता तो सुरक्षित रहेगी। *समाजवादी लोग कहते हैं कि अंत में सरकार गिरने ही वाली है।* परन्तु गिरने से पहले अनिवार्य मजबूत सत्ता की स्थापना कर लेना जरूरी है। परन्तु यह तो परस्पर विरोधी बात है। भारत के लोग जिस समय समझ लेंगे कि सरकार समाप्त होगई समझ लीजिए कि सरकार तो उसी समय पर लोक की चली गई। परन्तु अभी तो यह बात उनके दिमाग में घुस ही नहीं रही है।

प्रश्न १ — परन्तु यह सब कैसे होगा?

उत्तर—कॉलेज छोड़ने पर सीधे गांवों में चले जाने से यह हो सकता है। आपको अपनी स्नातकोत्तर (पोस्ट ग्रैजुएट) पढ़ाई नहीं करनी है। मान लीजिए कि अंगरेज समझ गए हैं कि अब भारत एक-न-एक दिन उनके हाथ से निकल जानेवाला है। या तो स्वतंत्र होगा या रूस उसे हजम कर जायगा। इसलिए आधी या चौथाई सत्ता देकर अंगरेज हमारे अन्दर फूट पैदा करेंगे और हमारे आदमियों के हाथों ही हमें पीटेंगे। और तब अगर मेरे जैसा कोई खड़ा होकर कहेगा कि लगान मत दो तो कांग्रेस की सरकार ही उसे जेल में भेजेगी। इसलिए चार आने जमा करने के बजाय गांवड़ जाने शक्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न ११—गाय के दूध की तरह बकरी के दूध की भी हिमायत आप क्यों नहीं करते ?

उत्तर— यहां का सब काम ग्रामोद्योग की दृष्टि से चल रहा है। केवल दूध के नामपर बकरी को जिन्दा नहीं रखा जा सकता। लोगों को बकरी का दूध चल जाता है। परन्तु उसके साथ बकरे का मांस भी वे पसन्द करते हैं। इसलिए हमने अभी केवल मर्यादित क्षेत्र में काम शुरू किया है। भगवान् बुद्ध ने बकरे को बचाने का प्रयत्न किया था। परन्तु वे उसे नहीं बचा सके। क्यों कि बैल की तरह बकरों का दूसरा कोई उपयोग नहीं होता। या तो उन्हें जंगल में छोड़ देना पड़े या खा जाना चाहिए। भारत में बकरों का उपयोग खाने में ही किया जाता है। तब बकरे का चमड़ा व्यर्थ क्यों जाने दिया जाय ? मैंने आपसे प्रारम्भ में ही कह दिया कि आज हमारी अहिंसा केवल मनुष्य जाति तक ही सीमित है। पर स्वयं वही आज संकट में पड़ रही है। अपने अन्दर यह अहिंसा का पूरा विकास कर लेगी तब अन्य प्राणियों के बारे में वह सोच सकेगी। संसार के अनेक देशों में आज लोग गायका ही दूध पीते हैं। परन्तु बैलों को खा जाते हैं। और गाय भी जब 'सूख जाती है' तब उसे कत्ल कर दिया जाता है। भारत में भी इस प्रकार लाखों गाएं मारी जाती हैं। इसी लिए हम अभी केवल गाय को ही बचाने का प्रयत्न कर रहे हैं। बकरी को बचाने का काम आनेवाली पीढ़ियों के लिए रख छोड़ा है। सारा काम एक ही पीढ़ी में कैसे बन सकता है ? आज अगर हम गाय को बचा सके तो कल आप ही स्वयं बकरी को बचाने का विचार करने लगेंगे। उपयोग के बगैर केवल भूतदया के नामपर किसी प्राणी को बचाना कठिन है। आज तो गाय और बैल का ही पूरा उपयोग हम कर सकते हैं।

प्रश्न १२— क्या इसमें आप अहिंसा से दूर नहीं जा रहे हैं ?

उत्तर— यह कैसे ? आज भारत में गाय और बकरी दोनों कत्ल होती हैं। बलिदान बन्द करने से लोग बकरे का मांस खाना बन्द नहीं करेंगे। परन्तु हिन्दूधर्म में केवल गो-रक्षण होता है। इसीलिए हम गाय और बैलों को बचाने का प्रयत्न करते हैं। यह केवल प्रारम्भ है। सदी के

उद्गम की तरह यह अहिंसा का उद्गम-स्थान है। इसीलिए यह छोटा है। यों देखा जाय तो पूर्ण अहिंसक जीवन असंभव ही होगा। केवल खाने-पीने में नहीं बल्कि सांस लेने में भी हिंसा होती है। इसलिए हिन्दूधर्म ने उसे मुक्तिसंगत रूप देकर कहा कि यह शरीर ही त्याग करनेलायक चीज है। अर्थात् शरीर की आसक्ति छोड़ दीजिए। यही मुक्ति है। अहिंसा के द्वारा ही समाज मुक्ति की ओर प्रगति कर सकेगा। इस दिशा में भारत से इतना आगे कोई देश नहीं गया है।

प्रश्न १३—यहां गोपुरी में चरखे बनाने के लिए यंत्रों का भी उपयोग किया जाता है। यह क्यों?

उत्तर—यंत्रों का हम तिरस्कार नहीं करते हैं। यंत्र तीन प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के यंत्र मारक होते हैं। उनकी हमें जरूरत नहीं है। दूसरे पूरक हैं। उनकी मदद हम ले सकते हैं। तीसरे प्रकार के यंत्र मनुष्य (शक्ति) को खतम करने वाले होते हैं। उनका भी हम स्वीकार नहीं कर सकते। पांच सौ वर्ष बाद हमें फिर इस प्रश्न पर विचार करना होगा। अर्थात् हर बार हमें सारासार का विचार करके काम करना चाहिए। गांवों को बिजली दी जा सकती हो तो मैं अवश्य दूंगा। परन्तु उसमें मनुष्य-बल और पशु-बल बेकार नहीं जाना चाहिए। हम रेलवे और छापाखाने का उपयोग करते हैं न? बनारस से आप रेल में बैठकर आए। यह ठीक है। परन्तु मैं कहूंगा कि यहां सेवाग्राम या पवनार जाने के लिए आपको मोटर की अपेक्षा अपने पांवों का उपयोग करना चाहिए। ग्रामोद्योग-संघ ने यंत्र चर्चा नहीं की है। परन्तु अगर हम यंत्र तैयार करते हैं तब तो गांवों में घर घर में कागज बनाया जा सकता है। यह यंत्र भले ही यंत्र में बनता हो। यदि हमारे बैलों के लिए पूरा काम है और वे बेकार नहीं हो रहे हों तो जरूरत के अनुसार यंत्र-शक्ति की मदद लेने में कोई हर्ज नहीं। मतलब यह कि हम यंत्रों से द्वेष नहीं करते। परन्तु आज की परिस्थिति में यंत्रों का कहां कितना व कैसे उपयोग किया जाय इन सब बातों का सारासार विचार करके उनसे काम लेना चाहिए।

प्रश्न १४— लोग हिंसा की तरफ क्यों जाते हैं ?

उत्तर– मनुष्य की वृत्ति है कि खुद परिश्रम न करें और दूसरे के परिश्रम से काम चलावे। फिर भी प्रकृति में प्रेम ही भरा हुआ है। सफेद कपड़े पर छोटा-सा धब्बा भी बुरा और बड़ा दिखता है। इतना बड़ा महाभारत पांच वर्ष चला। फिर भी अधिकांश लोग शान्ति का जीवन व्यतीत कर रहे थे। लड़नेवालों की संख्या उनके मुकाबले में बहुत कम थी। युद्ध मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है। इसी कारण वह बार-बार खटकता है। कम्युनिस्ट मुझ से कभी ऐसा प्रश्न नहीं पूछते। क्यों कि उनकी कल्पना है कि अंत में जाकर राज्य भी बचनेवाला नहीं है। हमें मानना होगा कि मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है। और हिंसा कृत्रिम चीज है।

प्रश्न १५—अन्य देशों या लोगों की तुलना में भारत में अहिंसा अपेक्षाकृत अधिक क्यों दिखती है ?

उत्तर—दूसरे लोगों के साथ भारत के लोगों की तुलना करना कठिन है। फिर भी दूसरे देशों की भी प्रवृत्ति हिंसा की अपेक्षा अहिंसा की ओर ही अधिक है। अगर ऐसी बात न होती तो कुटुम्ब-व्यवस्था कहीं निर्माण ही नहीं होती। पशुओं में कुटुम्ब-व्यवस्था नहीं है। मांसाहार से अन्नाहार की तरफ बढ़नेवाला मनुष्य क्या अहिंसा की तरफ ही नहीं जा रहा है? बुझने से पहले जिस प्रकार दिये की ज्योति बड़ी हो जाती है उसी प्रकार यह एटम बम हिंसा की समाप्ति काल का आदि चिह्न है। इसलिए मैं कहता हूं कि विज्ञान की खूब प्रगति कीजिए। क्यों कि विज्ञान कहता है कि या तो मुझे बचाइये या हिंसा को बचाइये। आप हम दोनों को एक साथ नहीं बचा सकते। क्यों कि हम दोनों मिलकर आपका संपूर्ण नाश करनेवाले हैं। इसलिए यदि हमें विज्ञान पसंद है तो हिंसा को हमें छोड़ना ही पड़ेगा। और हम तो प्रगति चाहते हैं इसलिए विज्ञान को छोड़ ही नहीं सकते। तब हिंसा को ही छोड़ना पड़ेगा।

(खादी जगत् अगस्त १९५६)

मेरे परम प्रिय मित्रो

आप सब को देखकर मुझे बहुत आनन्द हो रहा है। मैं अपने कार्यक्रम में तल्लीन रहता हूं। बाहर बहुत कम आता जाता हूं। परंतु आपके निमन्त्रण को मैं अस्वीकार नहीं कर सका। यही नहीं बल्कि मुझे स्वीकार करना चाहिए कि उसमें कुछ आकर्षण भी लगा। इसका कारण ढूंढने पर ऐसा लगता है कि आप सब विद्यार्थी हैं और मैं हमेशा का एक विद्यार्थी हूं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि सजातीय लोगों में आकर्षण और प्रेम भी हो। और चूं कि मैं भी विद्यार्थी हूं और आप भी विद्यार्थी हैं इसलिए इस नाम में मुझे विलक्षण आकर्षण लगा।

परन्तु इसमें भी और एक बड़ा कारण है। और वह बड़ा जोरदार है। वह यह कि युवकों से मुझे बड़ी आशा है। मैंने सुना है और पढ़ा भी है कि यौवन में अनपेक्षकारिता होती है। अर्थात् तारुण्य में मनुष्य बह जाता है। परन्तु यह केवल प्रवाद है। वस्तुस्थिति नहीं। मुझे तो अपने जीवन की अच्छी से अच्छी प्रेरणाएं युवावस्था में ही मिली हैं। और उन्हीं प्रेरणाओं से मैं अभीतक प्रेरित हो रहा हूं। इसलिए मैं तारुण्य का कृतज्ञ हूं और मेरे दिल में उसके प्रति आदर है। मैं उसे अनर्थकारी नहीं मानता। मैंने यही बात दूसरों में भी देखी है।

तारुण्य शब्द का अर्थ क्या है? उसका अर्थ इस शब्द से ही प्रकट है। शब्द अपने आप बात करते हैं। वे अपने अपनी खूबी बता देते हैं। तरुण शब्द स्वयं कहता है कि आप समाज के तारक हैं। तरुण यानी तारक। तारण करने वाला। इसलिए तरुणों पर बहुत दारोमदार है। मुझे तो तरुणों में बड़ी आशा है। मैं आपसे क्या अपेक्षा करता हूं? मैं आपको बताना चाहता हूं कि पहले आपमें शान्ति की कम अपेक्षा नहीं है। हमें सार्वभौम—संपूर्ण शान्ति की जरूरत है। जीवन के समस्त

* ता. १६ नवम्बर १९६५ को जबलपुर में प्रान्तीय विद्यार्थी कांग्रेस का उद्घाटन भाषण

लोगों में हम क्रान्ति करना चाहते हैं। इसी लिए मुझे आपसे सार्वभौम और जीवनव्यापी क्रान्ति की आशा है। आजके नेताओं ने आपको क्रान्ति का मार्ग बता दिया है। फिर भी मैं मानता हूं कि यदि क्रान्ति आएगी तो वह युवकों और विद्यार्थियों के द्वारा ही आएगी। तरुणों का यह स्वभाव है कि वे नये नये विचारों को जन्म देते हैं और वीरता के साथ उनपर अमल करते हैं। इसलिए मैं मानता हूं कि आपको नये विचारों का साथ देना चाहिए और प्रबल क्रांति कर दिखाना चाहिए।

परन्तु क्रान्ति केवल घोषणाओं से नहीं होती। इसके लिए हर दिशा में प्रयत्न करना पड़ता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन करना होता है। मैं देखता हूं कि भारत के युवकों में उत्साह तो बहुत है। और मैं इस उत्साह को पसन्द करता हूं। परन्तु उत्साह को मैं युवकों का बहुत बड़ा गुण नहीं मानता। वह तो एक साधारण स्वभाव है। एक बार किसी संस्थाने मुझसे सन्देश मांगा। उस संस्था का नाम था— 'तरुण उत्साही मण्डल"। मैंने कहा 'तरुण' और "उत्साही' यह कैसे है? इसमें द्विरुक्ति है। तरुण शब्द में उत्साह आ ही गया है। बूढ़ों के लिए अगर कहा जाय कि 'उत्साही वृद्ध' तो बात कुछ समझ में आने लायक होगी। उनके लिए इस विशेषण की जरूरत है। बूढ़ों को उत्साह की जरूरत है। परन्तु तरुणों को धीरता या धीरज की जरूरत होती है। जिसमें उत्साह नहीं है उसे तरुण कह नहीं सकते। धीरता उसमें इतनी चाहिए कि जिस काम को हाथ में ले उसे पूरा करके ही रहे। इसीको सातत्य कहते हैं। तरुणों मे धीरता होगी तभी वे क्रान्ति कर सकेंगे।

क्रान्ति के लिए क्रान्त दर्शन की जरूरत होती है। अपने आसपास की परिस्थिति चीर करके उस पार छिपी हुई चीज को स्पष्ट देखना और उसे कार्यान्वित करने की शक्ति और हिम्मत को क्रान्त दर्शन कहते हैं। क्रान्त दर्शन के मानी है परिस्थिति के गर्भ में छिपी खूबियों का दर्शन। ऐसा क्रांत दर्शन होगा तभी क्रान्ति हो सकेगी। क्रान्त दर्शन के लक्षण क्या है यह मैं आपको बताना चाहता हूं। आप मुझसे लम्बे चौड़े भाषण की नहीं मार्ग-दर्शन की अपेक्षा करते हैं। और मुझे भी लगता है कि इस विषय में मैं आपका मार्ग-दर्शन कर सकता हूं।

अनन्त दर्शन का पहला लक्षण है साम्ययोग। विद्यार्थियों के लिए साम्ययोग का आचरण कठिन नहीं है। हर प्रकार के भेदभाव को हम मिटा दें। जो पुराने विचारों में उलझे हुए हैं पुराने संस्कारों में पले हैं भेदभावों की बातों में जकड़े हुए हैं उनमें अभेद की आशा करना कठिन है। परन्तु विद्यार्थियों के लिए यह बात असंभव नहीं। विद्यार्थी के सामने जीवन का नवीन आदर्श होता है और उसमें यह शक्ति होती है कि अपने विचारों के अनुसार आचरण भी कर सके। जिसमें यह हिम्मत नहीं है वह न तो धरम है और न बाम। मुझसे एकबार किसीने वाम पन्थ का अर्थ पूछा। मैंने कहा जो बलवान् है जिसके अन्दर हिम्मत है या अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सकता है, वह वाम है। आप विचारों से ताजा हैं। इस लिए आप साम्ययोग का आचरण अवश्य कर सकते हैं। हिन्दुओं को बड़े न माने और मुसलमानों को छोटे न समझें। हरिजनों का नीचा और सवर्णों को ऊंचा भी न समझें। इस प्रकार सारे भेदभावों को भुला दीजिए। विद्यार्थी तो बचपन से ही समभावी होते हैं। बच्चा पैदा होता है तब किसी प्रकार का भेदभाव वह नहीं जानता। परन्तु बाद में माता-पिता ही उस पर अनेक प्रकार के भेद भाव के संस्कार डालते हैं। आपको इन संस्कारों से अलिप्त रहने का प्रयत्न करना चाहिए। आप किसीको भी ऊंचा-नीचा नहीं समझें। आज हम अंगरेजों को ऊंचा समझते हैं और हरिजनों को नीचा। ऊपरवालों की ठोकरें खाते हैं और नीचेवालों को ठुकराते हैं। परन्तु आप न तो किसीकी ठोकरें खायें न किसी को ठुकरायें। यह साम्ययोग है। साम्ययोगी किसीको भी अपने से नीचा या ऊंचा नहीं समझे। सबको अपने बराबर और अपने आपको सबके बराबर समझे। सारे भेदभावों को अपनी बुद्धि के अन्दर से निकाल दें तो स्वराज्य तो मिलिए न मिले मिलना है। स्वराज्य के मिलने में देरी का कारण हमारे ये भेदभाव ही हैं। हिन्दु-मुसलमानों के बारे में हम अंगरेजों को दोष देते हैं। परन्तु अछूतों के बारे में क्या हम ऐसा कह सकते हैं? क्या अंगरेजों के यहां रहते हुए हम अस्पृश्यता को नष्ट नहीं कर सकते? क्या वे इसमें रुकावटें डाल रहे हैं? इस प्रकार अपनी हर भूल के लिए अंगरेजों को

दोष देने का अर्थ है अपनी जिम्मेदारी को टालना। इस भूल को समझ लेना और ठीक कर लेना शान्ति दर्शन का पहला लक्षण है।

दूसरा लक्षण है श्रम-निष्ठा। मैं मानता हूँ और मेरा इतिहास का अध्ययन भी यही कहता है कि संसार में जितने भी विग्रह और मार जारी हैं उन सब की जड़ में एक ही वृत्ति काम कर रही है। और वही सारी विषमता की जड़ है। वह वृत्ति है खुद काम नहीं करना और दूसरे के परिश्रम का लाभ उठाना। इसलिए मैं विद्यार्थियों से अपेक्षा रखता हूँ कि वे परिश्रम की प्रतिष्ठा समझें और लोहार सुनार तथा भंगी का काम वे खुद करें। इस प्रकार वे किसी भी काम को ऊँचा या नीचा नहीं समझें। मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस के नेता भी इस बात के महत्त्व को अभी नहीं समझे हैं। पहले गांधीजी ने सुझाया था कि कांग्रेस की सदस्यता चन्दे के चार आने के स्थान पर सूत लिया जाय। इसमें उनका हेतु यही था कि पैसे के स्थान पर श्रम की स्थापना हो। इसके लिए एक समिति की भी स्थापना की गई थी। परन्तु उसका कुछ भी परिणाम नहीं हुआ। आखिर चार आने वाली बात ही कायम रही। चार आने के बजाय कांग्रेस की सदस्यता का शुल्क भले ही दो आने या दो पैसे भी रख सकते हैं। परन्तु जब तक सदस्यता का शुल्क पैसा रहेगा तब तक पैसेवालों की ही प्रतिष्ठा कायम रहेगी। श्रम की प्रतिष्ठा यदि संस्थापित करनी है तो स्वयं हम परिश्रम करना शुरू कर देना चाहिए।

लोग कभी कभी पूछते हैं कि हर व्यक्ति के लिए परिश्रम अनिवार्य क्यों किया जाय? मैं पूछता हूँ कि हर आदमी का भोजन करना क्यों जरूरी हो? यों भी लोग पूछते हैं कि ज्ञानी को श्रम का काम क्यों करना चाहिए? यह आपत्ति क्यों नहीं है? मैं पूछता हूँ कि ज्ञानी भी भोजन क्यों करे? वह ज्ञानामृत से क्यों न सन्तुष्ट होवे? उसे खाने-पीने और सोने की भी जरूरत क्या हो? यदि हमारे लिए सोना और खाना जरूरी है तो शरीर श्रम भी जरूरी है ही। जिस दिन हम खाने के बजाय दूसरी किसी चीज से काम चला लेंगे उस दिन मजदूरी—श्रम की जरूरत नहीं रहेगी। परमेश्वर ने सबको दिमाग दिया है और हाथ भी दिये हैं। यदि वह चाहता तो

ज्ञानी को केवल मस्तक–दिमाग–और मजदूर को केवल हाथ दे सकता था। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। क्यों कि वह चाहता है कि हर आदमी विचार भी करे और काम भी करे। काम से मतलब है उत्पादक परिश्रम। जो उत्पादक परिश्रम नहीं करता वह चोर है।

तीसरा स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। तरुणों को युवकों को व्रत लेना चाहिए अन्याय के प्रतिकार का। जहां जहां भी अन्याय दिखे वहां वहां उसका प्रतिकार करना ही चाहिए। सामाजिक और राजनैतिक सब प्रकार के अन्यायों के प्रतिकार का व्रत आपको लेना चाहिए।

परन्तु इस व्रत के पालन में हमको अहिंसा का उपयोग करना होगा। क्यों कि हिंसा से अन्याय का प्रतिकार हो ही नहीं सकता। इस युद्ध ने यह बात सिद्ध कर दी कि अहिंसा के सिवा मानवता की गति ही नहीं है। क्यों कि इस युद्ध में एक नया तत्त्व सामने आया है। अनन्य शरणता। मरनेवाले शत्रु पर शर्त लगाई जाती है कि वह बिना शर्त शरण आ जाय। बड़े बड़े राष्ट्र भी जिनके पास करोड़ों की सेना होती है इस प्रकार बिना शर्त शरण जाते हैं। क्यों कि वे शस्त्र के आधार पर लड़ते हैं। जो शस्त्रों के बल पर लड़ते हैं वे अपने से बलवान शत्रु के सामने झुक जाते हैं। जहां शरण-शरणता है उसके साथ अनन्य शरणता भी लगी ही हुई है। किन्तु जो शस्त्रोंपर नहीं अपनी आत्मापर विश्वास करता है वह जब तक शरीर में प्राण रहेंगे लड़ने की प्रतिज्ञा कर सकता है। अहिंसा के बल पर एक छोटा-सा बच्चा भी ऐसी प्रतिज्ञा कर सकता है। अहिंसा के बल पर ही हम अन्याय के प्रतिकार के व्रत का पालन कर सकते हैं।

परन्तु इन दिनों मैं अखबारों में पढ़ता हूं और लोगों से जबानी भी सुनता हूं कि अब तक हमने अहिंसा का बहुत आजमा कर देख लिया। अब तो तोड़ फोड़ का कुछ प्रयोग करने का समय आया है। सन १९४२ में हमने इस दिशा में कुछ प्रयोग किया भी। परन्तु मैं आपसे स्पष्ट कह देना चाहता हूं कि जो लोग इस तरह की बातें आपसे कहते हैं वे आपको कम से कम सौ वर्ष और गुलाम रखना चाहते हैं। आप यदि स्वतंत्र होना चाहते हैं तो आपके पास वह शक्ति है जिसके बल पर आप स्वतंत्र हो सकते हैं।

हमारी असली लड़ाई ४२ की लड़ाई से भी बड़ी होगी। परन्तु वह अहिंसक होगी। उसका स्वरूप राष्ट्रव्यापी होगा। हमें राष्ट्रव्यापी हड़ताल करनी होगी। क्रान्ति उसीसे होगी। इसके लिए हमें जनता की सेवा करनी होगी। तब बाइसराय के आर्डिनन्स की भांति हमारी सूचना भी पांच मिनिट के अन्दर सारे देश में फैल जावेगी और उसी क्षण सार्वत्रिक हड़ताल हो जायगी। और जैसा कि सरकार ने कहा था सात दिन के अन्दर सारी क्रान्ति सफल हो जायगी। परन्तु उसके लिए प्रेम और अहिंसा का संगठन करना होगा।

अंत में एक बात और कह दूं। विद्यार्थी राजनीति में भाग लें या नहीं यह प्रश्न अनेकों ने अनेक बार पूछा है। सच बात यह है कि आपके देश का राष्ट्रीय आन्दोलन राजनैतिक आन्दोलन है ही नहीं। जब घर को आग लगती है क्या तब कोई इस प्रकार का प्रश्न पूछता है? जितनी बड़ी बाल्टी उठ सके उठाकर हर आदमी को दौड़ पड़ना चाहिए। छोटा बच्चा छोटी बाल्टी लेगा। गुलामी की आग बुझाने में सभी को भाग लेना चाहिए। विद्यार्थी है तो छोटी बाल्टी उठावे। परन्तु उठावे जरूर। (खादी जगत दिसम्बर १९४५)

रचनात्मक कार्यक्रम प्रेम का कार्यक्रम है* १४

मेरे प्रिय भाइयो

यह शिबिरवाली कल्पना उपयोगी हो सकती है। जेल में रहते हुए दो चार बार जब मुझे बोलने का प्रसंग मिला तब मैंने कहा था कि सरकार ने हमारे लिए यह मुफ्त का शिबिर खोल दिया है। इसमें बड़े बड़े नेताओं को भी उपस्थित रहने का अवसर मिल गया है। आपका यह शिबिर तो केवल एक हफ्ते का है। परन्तु वहां तो सरकार ने दो-तीन वर्ष का प्रबन्ध कर दिया था। वह स्वयं एक बहुत बड़ा शिबिर था। उसका

* नागपुर प्रान्तीय राष्ट्र-सेवा-दल के शिक्षण-शिबिर में दिया गया उद्घाटन भाषण। ता. २५ १२ १९४५

यदि ठीक ठीक काम उठाया गया होता तो बाहर निकलते ही हम तुरन्त काम में जुट जाते। अस्तु।

तो आज यहां एक शिविर खोला जा रहा है। आप में से बहुतसे लोग उस बेलगांववाले शिविर में भी जरूर रहे होंगे। और मेरा ख्याल है कि वहां आपने कुछ शिक्षण भी लिया होगा। इस प्रकार के सात दिन वाले शिविरों से बहुत काम नहीं होता। मराठी में एक कहावत है— 'रात तो थोड़ी और स्वांग बहुत से' ठीक वैसा हाल है। फिर भी सात दिन म भी कुछ तो जानकारी अवश्य दी जा सकती है। किन्तु साधारणत सात दिन का समय बहुत कम पड़ता है। कम-से-कम एक महिने का समय तो होना ही चाहिए।

बार-बार कहा जाता है कि हमें रचनात्मक काम में लग जाना चाहिए। इसलिए रचनात्मक कार्य के मूल में जो वस्तु है वह मैं आज आपके सामने रख देना चाहता हूं।

बात यह है कि हमारा देश एक बहुत बड़ा राष्ट्र है। इसकी आबादी चालीस करोड़ है। अगर बन सका तो इतना बड़ा राष्ट्र एक महान् शक्ति भी बन सकता है। और नहीं तो कमजोर भी हो सकता है। यदि हमारे सबके अन्दर प्रेमभाव और एकता होगी तो यह राष्ट्र एक बहुत बड़ी शक्ति साबित हो सकता है। और उसके आधार पर हम अपनी स्वतंत्रता अवश्य प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु यदि हमारे अन्दर फूट रही —और फूट का निर्माण होना तो बड़ा सरल है—तो यही चालीस कोटि की संख्या हमारी दुर्बलता का कारण भी सिद्ध हो सकती है।

आज हमारे अन्दर अनेक प्रकार के भेद हैं। जातिभेद भाषाभेद, प्रान्तभेद और धर्मभेद। इन भेदों के कारण हमारे अन्दर असन्तोष भी है। ये सारे भेद अंगरेजों ने पैदा किये यह कहना सही नहीं होगा। हां उनके यहां रहने के परिणामस्वरूप इनका जोर अवश्य बढ़ गया। परन्तु ये उत्पन्न हुए हैं हमारे ही कारण। हमारे भेद तो बने रहें, परन्तु अंगरेज उनसे लाभ नहीं उठावें यह उम्मीद करना गलत है। यदि वे ऐसा करते जब जावें तब तो यही हमारे स्वराज्य-आन्दोलन के नेता बन जायेंगे। परन्तु भेदों से

लाभ उठाकर ही वे यहां रह सकते थे। इसलिए इन भेदों को हमें दूर मिटाना होगा और अभेद की तरफ अर्थात् प्रेम की ओर जाना होगा। इस प्रकार यदि थोड़े में कहना चाहें तो रचनात्मक कार्यक्रम प्रेम उत्पन्न करने का प्रेम के प्रचालन का और प्रेम के विकास का और प्रेमोपलब्धि का कार्यक्रम है। प्रेम की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न जो रचना करने की जरूरत है, उसका नाम है रचनात्मक कार्यक्रम।

भारत के दो भाग हैं। उत्तर और दक्षिण। उत्तरवालों को दक्षिण की भाषाएं नहीं आती और दक्षिणवालों को उत्तर की भाषाएं नहीं आतीं। उत्तर में अनेक भाषाएं हैं। उत्तर की तरफ के लोग कुछ अंशों में एक दूसरे की भाषा समझ सकते हैं। हिन्दी भाषी यदि बंगाल में चले जावें तो बंगाल के लोग उनकी भाषा समझ सकेंगे। इसी प्रकार हिन्दी भाषी भी बंगला कुछ कुछ समझ सकते हैं। दक्षिण के लोग भी एक दूसरे की भाषा कुछ कुछ समझ लेते हैं। उदाहरणार्थ तमिळ भाषी कुछ कुछ तेलगू समझ लेते हैं और तेलगू भाषी तमिळ भाषा समझ लेते हैं। परन्तु उत्तर और दक्षिण के बीच भाषा भेद की एक दीवार खड़ी है। इस दीवार से लाभ उठाकर बड़ी हानि की जा सकती है। आपको ज्ञात है कि भारत सरकार ने अपनी सेना के दो भाग किये हैं—उत्तर और दक्षिण। अर्थात् यदि उत्तर में कहीं उपद्रव हुआ तो वहां दक्षिण की सेना भेज दी जाती है। और उत्तर के लोगों की भाषा नहीं समझने के कारण वे अपने उत्तर भारत के भाइयों से विरोधियों के समान लड़ सकते हैं। इसी प्रकार यदि दक्षिण में कहीं बगावत हुई तो उत्तर की सेना वहां भेजी जा सकती है। इस प्रकार हमारे इन दो भागों का अनुचित लाभ उठाया जा सकता है। इतिहास के जानकारों को ज्ञात है कि सन १८५७ के गदर में हमारे भेद का इस तरह लाभ उठाया भी गया था।

इसलिए हमारे लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम सब ऐसी किसी एक भाषा का अध्ययन करें कि जिसे उत्तर के और दक्षिण के भी लोग समझ सकें। इसका हेतु स्पष्ट ही ज्ञात जाप्ति नहीं है। लोग मुझसे पूछते हैं कि आप लोगों ने हिन्दुस्तानी शुरू की है। इससे क्या लाभ होगा? उसके

साहित्य में ऐसी क्या विशेषता है ? मैं कहता हूं कि उसका हेतु ज्ञान की प्राप्ति है ही नहीं। वह तो केवल प्रेम के व्यवहार के लिए है। हमें आपस में प्रेम बढ़ाना है।

इसलिए दक्षिण के लोगों को उत्तर के लोगों की भाषा सीखनी चाहिए और उत्तर के लोगों को दक्षिण की कोई भाषा सीखने का प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु मैं जानता हूं कि इस दूसरी बात के लिए देश में कोई हलचल नहीं है। फिर भी हिन्दुस्तानी हमारी राष्ट्रभाषा है। इस लिए दक्षिण की भाषाएं सीखने का कोई प्रयत्न न करे, यह उचित नहीं है।

उत्तर भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही रहते हैं। इनमें से कुछ नागरी लिपि में लिखते हैं और कुछ उर्दू लिपि में। आजकल साधारणतः मुसलमान उर्दू में ही लिखते हैं। उनके समाचार पत्र भी उर्दू में ही छपते हैं। हिन्दू नागरी में लिखते हैं और उनके समाचार-पत्र नागरी में छपते हैं। मैं साधारणतः इसलिए कहता हूं कि हिन्दुओं के कुछ समाचार पत्र उर्दू में छपते होंगे और मुसलमानों के भी कोई पत्र शायद नागरी में छपते हों। परन्तु दोनों लिपियों का यदि अध्ययन किया जाय तो हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दूसरे के निकट पहुंच सकते हैं। इसमें भी मुख्य उद्देश्य ज्ञान-संपादन नहीं है। मुख्य वस्तु प्रेम ही है। यों देखा जाय तो हर आदमी के दिल में प्रेम होगा। और प्रत्येक प्रान्त की स्वायत्तता यदि अहिंसा पर अर्थात् दूसरे प्रान्त के अविरोध पर आधारित है तो अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा सीखने की अनिवार्य जिम्मेवारी किसी पर लादने की जरूरत नहीं रह जाती। इसके विपरीत यदि मन में द्वेषभाव हो तो दूसरे के छिद्र जानने के लिए भी भाषाओं का अध्ययन किया जाता है। इस दृष्टि से दो नहीं दस लिपियों और दस भाषाओं का भी यदि अध्ययन किया जाय तो हमारी दृष्टि से वह व्यर्थ है। दूसरों के दोष जानकर उनसे अनुचित लाभ उठाने के हेतु से दूसरी लिपि सीखने की हलचल में लोग शरीक भी हो सकते हैं। परन्तु हमारे लिए महत्व की बात है प्रेम बढ़ाना। इस बात को समझ लेंगे तो यह प्रश्न ही खड़ा नहीं होगा कि हम पर अमुक भाषा और अमुक लिपि क्यों लादी जाती है।

अंग्रेजों के आनेसे पहले हमारे देश में आज की भांति गांवों और शहरों के बीच ऐसी दीवारें नहीं थीं। आज जो भी कोई थोड़ा-सा पढ़ लिया है वह अपने गांव को छोड़कर शहर में जाकर बैठ जाता है और गांवों का शोषण करने लग जाता है। उसे केवल अंग्रेजी भाषा सिखाई जाती है। इस कारण वह गांवों की कुछ भी सेवा नहीं कर सकता। पुराने जमाने में विद्वान भी गांवों में रहते थे। आज तो कोई भी पढ़ा लिखा वहां रहना नहीं चाहता। राज्यकर्ताओं ने अपना शासन चलाने के लिए नौकरी पेशा वर्ग इसीलिए निर्माण किया कि गांवों को लूटने में वह अंग्रेजों की मदद कर सके।

इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे साहित्य का भी लोक-शिक्षण के काम में कोई उपयोग नहीं हो सकता। बहुधा साहित्य अर्थात् के विषय में आपकी जो चर्चायें चलती हैं उन्हें गांवों में कौन पढ़ता है? हमारी भाषा के इतने छापाखाने हैं। परन्तु गांवों में घर घर कौनसी किताब पहुंची है इसका कोई जवाब नहीं मिलता। इसके विप-रीत तुलसी रामायण जैसी पुस्तकें कभी से घर घर पहुंच गई हैं। मैंने सुना है कि रवीन्द्रनाथ जैसे महा कवि की रचनायें भी बंगाल के गांवों में नहीं पहुंच सकी हैं। केवल ऊपर के कतिपय ही पहुंच सकी हैं। परन्तु सन्तो की वाणी जरूर गांवों में पहुंच गई है। इसका कारण यही है कि हमारा साहित्य केवल शिक्षितों के लिए ही लिखा जाता है। सर्व-साधारण जनता से उसका कोई संपर्क नहीं हो सका है।

घोर तिमिरघन निविड़ निशीथे।
पीड़ित मूर्छित देशे।
जाग्रत छिल तव अविचल मंगल
नत नयने अनिमेषे॥

कितना सुन्दर है यह काव्य! लेकिन उसकी भाषा सर्वसाधारण जनता की भाषा नहीं है। संतों की भाषा जनता की भाषा थी। क्यों कि वे सर्वसाधारण जनता के थे। उसीमें से निकले थे। हमारा साहित्य पहले शहरों के लिए निर्माण होता है। उसके बाद गांवों के लिए। इसका

अर्थ यह है कि अंग्रेजों के आने के बाद ही देश शहर और गांव इस प्रकार दो भागों में बंट गया है।

आप यदि गांवों से एक रुपया लेते हैं तो इस कर्ज को किसी न किसी रूप में आपको लौटाना ही चाहिए। कम से कम आठ आने तो लौटाना चाहिए न? हमारा जिस बुनियाद पर खड़ी है कम-से-कम उसे तो मजबूत रखना चाहिए न? और याद रखें हमारी यह बुनियाद गांव है। उनका सुख-दुख हमारे सुख-दुख से अलग कैसे हो सकता है? इस लिए खादी-ग्रामोद्योग आदि की अतिशय आवश्यकता है। सच पूछिए तो शहरों और गांवों के भेद को दूर करना ही सच्चा कार्यक्रम है। शहर वालों की वृत्ति यदि ग्रामीण हो सके तो वे समझ जायेंगे कि गांव उनकी माता है। और उन्हीं के लिए हमें जीना तथा मरना भी है। यदि इस दृष्टि से देखेंगे तो खादी और ग्रामोद्योग का एक नया चित्र आपको दिखाई देगा। इसके दूसरे भी पहलू हैं। परन्तु यह पहलू ऐसा है जो आसानी से समझ में आ सकता है।

और एक बात स्त्री-पुरुषों के भेद की है। हम मानते हैं कि दूसरे राष्ट्रों में स्त्रियों का स्थान पुरुषों की अपेक्षा गौण है। परन्तु दूसरे राष्ट्रों में क्या है इसका ख्याल हम क्यों करें? हम अपना दोष दूर कर देंगे तो दूसरे अपने दोष खुद-ब-खुद सुधार लेंगे। हमारे यहां शास्त्रकारों के ऐसे वचन भी हैं जिनमें स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी का स्थान दिया गया है। परन्तु आज हमारे यहां स्त्री-पुरुषों में भेद है इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता। इन दोनों में जितने कृत्रिम भेद हैं उन्हें हमें अवश्य ही दूर कर देना चाहिए।

इसी प्रकार छुआछूत के भेद को भी हमें दूर करना है। इसीलिए मैंने प्रारंभ में पूछा था कि इस शिविर में हरिजन हैं या नहीं? (बताया गया था कि ग्यारह हरिजन और तीन मुसलमानों सहित कुल दो सौ स्वयंसेवक शिविर में हैं) हमारा व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि हमारे बीच कोई भेद रहे ही नहीं। मेरा तो ख्याल है कि हर घर में एक एक हरिजन लड़का नौकर के रूप में नहीं अपने पुत्र के रूप में रहना चाहिए।

घर में तीन लड़के हैं तो चार समझकर उसकी सारी जिम्मेदारी हमें उठानी चाहिए। आप मुझसे प्रायः पूछते हैं कि हमें ऐसी कोई देश-सेवा बताइए जो हम घर बैठे कर सकें। तो मैं तुरन्त उनसे कह देता हूं कि एक हरिजन लड़का अपने घर में रख लीजिए। तब वे औरतों के पीछे छिपकर अपनी कमजोरी को छिपाने लगते हैं। इसीलिए मैं कहता हूं कि अब तो स्वराज्य का कार्यक्रम भी रूप जैसा हो गया है। अस्पृश्यता-निवारण के काम में जितनी देरी होगी उतनी ही देरी स्वराज्य की प्राप्ति में होने वाली है। हमारे नेता कहते हैं कि हिन्दू-मुसलमानों का भेद अंगरेजों ने पैदा किया है। पर मैं पूछता हूं छुआछूत को दूर करने में अंगरेज आपको कहां रोक रहे हैं? और अगर उनकी तरफ से इसमें कोई रुकावट नहीं है और आप उसे धीरे धीरे दूर करना चाहते हैं तो स्वराज्य भी धीरे धीरे मिलेगा यह बात आपको सुनने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। मजदूरों के नेता पंडित नेहरू से कहते हैं कि जरा धीरे चलिए, हमें मौका तो दीजिए। इसी प्रकार हम भी यदि हरिजनों से कहेंगे कि जरा सब्र कीजिए तो जैसा कि अम्बेडकर कहते हैं वे यही समझेंगे कि हमारी नीयत ही ठीक नहीं है। आखिर *महाराष्ट्र के हरिजनों में अम्बेडकर की ही बात क्यों सुनी जाती है?* इसी लिए कि अम्बेडकर उन्हींमें से हैं। यदि हम अंगरेजों को गालियां दे सकते हैं तो अछूत हम भी गालियां दे सकते हैं। यदि मैं हरिजन होता तो अभी तक क्या कर गुजरता कह नहीं सकता। शायद मेरी अहिंसा भी विचलित हो जाती। कितनी लज्जाजनक अवस्था है यह? बिल्लियां और कुत्ते भी हमारे पास आ सकते हैं, परन्तु हमारे हरिजन भाइयों पर अनेक प्रकार की सख्त पाबंदियां हमने लगा रखी हैं। क्या इन सबको सहा जा सकता है?

इसलिए रचनात्मक कार्यक्रम में अस्पृश्यता-निवारण का महत्व बहुत अधिक है। सारा का सारा रचनात्मक कार्यक्रम प्रेम का कार्यक्रम है। आपको इस दृष्टि से ही देखना चाहिए। और जितना भी अधिक इसपर अमल कर सकें करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(खादी जगत् जनवरी १९४६)

आप जानते हैं कि हम काफी लम्बे समय तक जेल में रहकर आये हैं। इसका अर्थ यह है कि हमें अध्ययन वगैरा करने के लिए काफी समय मिला है। वहां पर बहुत से विषयों का अध्ययन होता रहता था। इनमें भारत के अर्थशास्त्र का भी अध्ययन हुआ। भारत की समस्याओं पर अनेक पहेलुओं से विचार होता था। उसमें गो-सेवा के विषय में पठन-पाठन और विचार-विनिमय भी स्वाभाविक रूप से हुआ। इस सिलसिले में एक जगह यह पढ़ने में आया कि भारत में फी आदमी दूध की खपत सात औंस तक थी। लेकिन १४ वर्ष के युद्ध के बाद यह घटकर पांच औंस तक रह गई। इस किताब में भारत के प्रत्येक प्रान्त की फी आदमी खपत की औसत भी दी गयी थी। मध्यप्रदेश के एक भाग में यह औसत फी आदमी एक औंस अर्थात् २॥ तोले बतायी गई थी। हम लोग इसी मध्यप्रदेश म रहते हैं। गांवों की सेवा करते हैं और हमारा दावा है कि हमें यहा के गांवों के बारे में जानकारी है। फिर भी यह एक औंसवाली बात पढ़कर मुझे विश्वास ही नहीं हुआ। अधिक जांच-पड़ताल करने पर ज्ञात हुआ कि यह अंक सही था और यह सरकारी रिपोर्ट पर से ही लिया गया था। जेल से छूटने के बाद विचार किया कि हमारे आसपास की हालत क्या है यह तो देखें। हमने सुरगांव के अंक एकत्र किये। वहां के अंक एकत्र करना सरल और आवश्यक भी था। क्यों कि इस गांव मे हम काम करते थे। मैं आंकड़े जाड़े के दिनों के थे। इन दिनों मैं दूध अधिक होता है। गरमी के दिनों में इसका आधा दूध भी नहीं रह जाता। औसत तो साल भर की होती है। जाड़े में उस गांव मे दूध के उत्पादन की औसत फी आदमी चार औंस की थी। इस मौसम में यदि दूध का उत्पादन फी आदमी चार औंस है तो गरमी के दिनों में तीन औंस मानने में कोई हर्ज नहीं। फिर भी सरकार की इस एक औंस की औसत से यह अधिक ही पड़ती है। मैं अपने मन में सोचने लगा कि यही गांव कैसे भाग्यवान् निकला जहां के निवासियों को सरकार की एक औंस की औसत मे दो औंस दूध अधिक

* गो-सेवा संघ के तीसरे अधिवेशन में दिया गया भाषण ता १२-२-५१

मिल रहा है। सोचने पर ध्यान में आया कि इन गांव के पास नदी है। इसलिए यहां चारेपानी की सुविधा जानवरों को अधिक है। इस कारण इस गांव की हालत इतनी अच्छी है कि यहां के लोगों को औसतन तीस औंस दूध मिल जाता है। अब आप विचार करें कि जिस देश में दूध की औसत औंसों में नापी जाती है, उसकी हालत क्या होगी। लड़ाई के दिनों में स्वयं इंग्लैंड में भी खाद्य पदार्थों की कमी महसूस हो रही थी। वहां के खाद्य मंत्री ने निरुपाय होकर जनता से विनय होकर विनन्ति की कि हम अधिक अन्न प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु लड़ाई के दिन हैं। पहले के समान अन्न देना कठिन ही है। इसलिए कम से ही काम चलाना चाहिए। अभीतक हम तीन पौंड अर्थात् डेढ सेर दूध फी आदमी देते थे। परन्तु अब ढाई पौंड से ही काम चलाना होगा। लड़ाई के दिनों में इंग्लैंड को ढाई पौंड दूध से ही काम चलाना पड़ता है। और भारत का तो सदा पांच औंस दूध से ही पेट भर जाता है। यह स्थिति उस देश की है जहां लोग गाय को माता कहते हैं।

इस पर से किसी के भी समझ में यह बात आ जायगी कि हमारे लिए गो-सेवा का महत्त्व कितना अधिक है। मेरे जैसे खादी निष्ठ भी विशेष परिस्थिति में इस प्रकार की समाज-रचना की कल्पना कर सकते हैं कि जिसमें सारे किसानों को दूसरे कामों में लगाकर मिलों का राष्ट्रीय करण करके देश अपनी कपड़े की जरूरत को पूरी कर ले। परन्तु हम यह तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि दूध के बगैर हम कभी काम चला सकते हैं। इसलिए दूध का सवाल खादी से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

दूध का प्रश्न कितना महत्त्वपूर्ण है यह समझलेने के बाद एक और बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह है गो-सेवा की दृष्टि। पहले से दृष्टि को ठीक तरह से समझ लिया जायगा तो काम अधिक अच्छा होगा। नहीं तो सारा काम अव्यवस्थित होगा। अव्यवस्थित काम की गति अधिक होने पर भी उसमें गलत होता है। इसलिए आज मैं केवल यही कहना चाहता हूं कि गो-सेवा का काम किस दृष्टि से किया जाना चाहिए। यही मेरे आज के भाषण का मुख्य विषय है। दृष्टि को ठीक

तरह से समझ लेने पर प्रत्यक्ष काम में जो कठीनाइयां उपस्थित होंगी उन पर विशेषज्ञ लोग विचार करके जो मार्ग सुझावेंगे उसके अनुसार गौ-सेवा-संघ जैसी संस्थाएं काम करने का प्रयत्न करेंगी।

गो-सेवा दो दृष्टियों से की जा सकती है। एक तो वह जो हिन्दुओं के मन मस्तिष्क और खून में है—अर्थात् गाय के प्रति पूज्य बुद्धि। परन्तु वह पूज्य बुद्धि देश को कहांतक ले गई है वह हमने देखा ही है। गाय की जितनी उपेक्षा और उसके कारण गाय की जैसी करुणा जनक दुरवस्था इस देश में है ऐसी शायद ही किसी दूसरे देश में हो। हम यह नहीं कह सकते कि इसका कारण पूज्य बुद्धि का अभाव है। फिर ऐसा क्यों हो रहा है? इसका कारण क्या है? कारण यही है कि वह पूज्य बुद्धि शास्त्रीय नहीं है। शास्त्ररहित बुद्धि से सारा काम हो रहा है। गीता ने हमें बताया है कि केवल श्रद्धा होना बड़ी बात नहीं है। श्रद्धा तो हर आदमी में किसी-न-किसी प्रकार की होती ही है। परन्तु केवल सात्त्विक और शास्त्रीय श्रद्धा ही तारक होती है। ज्ञान-रहित अर्थात् अशास्त्रीय श्रद्धा प्रगति की ओर नहीं ले जा सकती। हम बचपन म सिखाया गया था कि एक अस्पृश्य को छूनेसे जो अपवित्रता आ जाती है वह गायके छू लेनेसे दूर हो जाती है। यह जड़ता है जो एक मनुष्य को अपवित्र बताती है और एक पशु को मनुष्य से भी पवित्र बताती है।

इस युग मे यह बात मानने योग्य नहीं कि गाय मे सभी देवताओं का निवास है और दूसरे प्राणियों मे देवा का अभाव है। यह पूज्यभाव का अतिरेक है—मूढ़ता है।

दूसरी दृष्टि है वैज्ञानिक पद्धति से काम करने की। हमारी सेवा की परम आर्थिक कसौटी पर होनी चाहिए। जो बात इस कसौटी पर सही साबित नहीं होगी वह संसार मे नहीं टिक सकेगी। इसलिए यदि हमारी गौ-सेवा आर्थिक दृष्टि की परख पर नहीं टिक सकती है तो उसे चिपटकर बैठे रहना उचित नहीं। उसे छोड़ देना चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टि यह कहती है कि गाय मनुष्य-समाज के लिए उपयोगी होगी और आर्थिक दृष्टि से लाभदायक भी होगी तभी हमारी गो-सेवा टिक सकेगी।

इन दो दृष्टियों में सदा झगड़ा चलता आया है। झगड़े का कारण यह है कि एक तरफ मूढ़ता है और दूसरी तरफ केवल आर्थिक दृष्टि है। केवल आर्थिक दृष्टि रखेंगे तो उसका अर्थ यह होगा कि जबतक गाय दूध दे तबतक उसका पालन किया जाय और ज्यों ही वह दूध देना बन्द कर दे उसे काटकर आदमी खा जाय। इसमें आर्थिक दृष्टि से लाभ है। चमड़े की दृष्टि से भी कत्ल की गई गाय का चमड़ा अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। गाय की उपयुक्तता समाप्त होते ही उसका जीवन भी समाप्त हो जाना चाहिए यह है केवल आर्थिक दृष्टि का परिणाम। फिर यदि अपने आप उसका जीवन समाप्त नहीं होता है तो हमें उसे समाप्त कर देना चाहिए। पश्चिमवाले लोग यही करते हैं। जबतक गाय दूध देती है तबतक उसका पालन वे प्रेमपूर्वक करते हैं। उसे खिलाते हैं और दया-दृष्टि से काम भी लेते हैं और ज्यों ही वह दूध देना बन्द कर देती है उसे कत्ल करके खा जाते हैं। इसमें भी उनकी दृष्टि दया की ही है ऐसा वे कह सकते हैं।

तो अब हम क्या करें? हमारे पास वैज्ञानिक दृष्टि के अलावा भी एक और दृष्टि है। उसे ठीक ठीक समझ लेना चाहिए। वह है हमारे भारतीय समाजवाद की दृष्टि। गाय को हमने अपने परिवार में स्थान दे दिया है। किन्तु उसे यह स्थान देने से पहले उसकी उपयुक्तता पर भी विचार कर लिया गया है। समाजवाद सारे मनुष्य-समाज का ध्यान रखता है। समाजवाद कहता है कि हर मनुष्य को उसके लायक काम दीजिए। उससे पूरा काम लीजिए और उसे पूरा रक्षण दीजिए। भारतीय समाजवाद कहता है कि मनुष्य-समाज के साथ साथ गाय को भी अपने कुटुम्ब में स्थान दीजिए, उससे पूरा पूरा काम लीजिए और उसे पूरा पूरा रक्षण भी दीजिए। हम जिससे पूरा पूरा काम लेकर जिसे पूरा संरक्षण दे सकते हैं ऐसा भारत में केवल एक ही जानवर है और वह गाय है। इसलिए भारतीय समाजवाद ने मनुष्य के साथ गाय को भी समाज का एक अंग मान लिया। परन्तु यह करके उसने एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी भी अपने सर पर ले ली है। वह जिम्मेदारी क्या है इसका भी हमें विचार कर लेना चाहिए।

कल एक सज्जन कह रहे थे कि यदि हम गाय और बैलों का संरक्षण नहीं करेंगे तो हमारे देश में ट्रैक्टर आयेंगे। और यह अच्छा नहीं होगा। उनका यह कथन बिलकुल सही है। परन्तु मैं पूछता हूं कि हम ट्रैक्टर का विरोध क्यों करते हैं? क्या इसलिए कि हमारे यहां जमीन छोटे-छोटे टुकड़े हैं इसलिए यहां ट्रैक्टर चल नहीं सकेंगे? यदि यही बात है तो क्या हमारे अन्दर इतनी भी बुद्धि और पुरुषार्थ नहीं है कि हम इन छोटे छोटे टकड़ों को तोड़ कर बड़े बड़े चक बना ले? यदि ऐसा करना इष्ट हो तो यह करना कोई बहुत कठिन बात नहीं है। अंगरेजी में कहावत है न "जहां चाह है वहां राह भी मिल ही जाती है। इस बारेमें ऐसी कोई बाधा नहीं है जिसे हम दूर नहीं कर सकते हों। गांवों के लोग यदि अशिक्षित हैं तो उन्हें पढ़ालिखा भी बनाया जा सकता है। यदि इस चीज को वे अभी नहीं ग्रहण कर सकते तो कुछ समय के बाद ग्रहण कर लेंगे। जमीनों के छोटे छोटे टकड़े हैं इसलिए ट्रैक्टर नहीं चलाये जा सकते और ट्रैक्टर नहीं आ सकते इसलिए बैल चाहिए और बैल तो गायों से ही मिलते हैं इसलिए गायों की रक्षा करना जरूरी है यह दलील निःसार है। यह विचार के सामने नहीं टिक सकती।

हमारी भूमिका इससे अच्छी होनी चाहिए। हमारी दलील यह हो कि भारतीय समाजवाद ने गाय को अपने कुटम्ब का एक अंग मान लिया है। और उसका जबतक हम पूरा पूरा उपयोग नहीं करेंगे तबतक हम उसको बचा नहीं सकते। यदि ट्रैक्टर आते हैं तो बैलों को पूरा काम नहीं दे सकते। इसलिए गो-रक्षा जरूरी है। यह है सही युक्तिवाद। हमारे देश में जमीन छोटे छोटे टुकड़ों में बंटी हुई है इसलिए हम ट्रैक्टरों से काम नहीं ले सकते यह दलील कमजोर है। इस से तो केवल कुछ दिनों के लिए आप ट्रैक्टरों को टाल सकते हैं। हमारी दुर्बलता दूर होते ही—और उसे तो दूर करना ही होगा—हम ट्रैक्टरों से काम ले सकेंगे। बल्कि मैं तो कहता हूं कि जमीनों की इन मेढ़ों को तोड़कर हमें यों भी बड़े बड़े चक बना लेने चाहिए। और उनकी काश्त बैलों की मदद से ही की जानी चाहिए। न तो ट्रैक्टरों के भय से जमीनों की मेढ़ें कायम रखनी चाहिए और न उनके कारण से मेढ़ें तोड़ने की ही जरूरत है। मैं कहता हूं

कि गांवों के हित की दृष्टि से ही खेतों की मेड़ें तोड़ना जरूरी है। इसलिए वे अवश्य तोड़ी जावें। आज हमारे यहां हर खेत की रखवाली के लिए एक एक अलग अलग आदमी को जागना पड़ता है। यदि हम किसी किसान से पूछते हैं कि तू क्यों जागता है? तो वह कहता है कि इसलिए कि पड़ौसी का बैल मेरा खेत नहीं चर जावें। इस प्रकार सारे गांव के लोग चार महीने जागते रहते हैं। परन्तु यदि सारे गांव की जमीन एक चक ही जावे तो यह सारी झंझट दूर हो सकती है। आज एक बैल-जोड़ी से बीस एकड़ जमीन की काश्त हो सकती है। परन्तु बहुत से किसानों के पास तो केवल चार-पांच एकड़ जमीन ही है। इसलिए उनके पास तो एक बैल के लिए भी पूरा काम नहीं होता। अगर वे आधा बैल रख सकते होते तो उनका काम तो उतने से भी चल जाता। और जिनके पास केवल ढाई एकड़ जमीन है उनकी तो और भी मुसीबत है। परन्तु यदि गांव की सारी खेती एक कर दी जाय तो ये सारी कठिनाइयां हल हो सकती हैं।

इसलिए ट्रैक्टर आयेंगे तो क्या होगा इस भय से नहीं बल्कि भारतीय समाजवाद की दृष्टि से गो-सेवा का विचार होना चाहिए। समाजवाद ने गाय को हमारे कुटुम्ब में स्थान देकर पाप किया ऐसा अगर आप मानते हैं तो बैलों को छोड़ दीजिए और ट्रैक्टर ले आइए और गाय दूध देना बन्द कर दे कि तुरन्त उसे खा जाइए। गोवंश-वृद्धि के लिए जितने सांड़ों की जरूरत हो उतनों को छोड़कर शेष सब बछड़ों को भी मारकर खा जाना चाहिए। अगर केवल रूढ़ि के कारण कोई गाय नहीं खाता है तो यह भ्रम समझा जाय। और यदि इस अनादि काल से चली आई रूढ़ि के कारण हिन्दू लोग गाय को खाना स्वीकार नहीं करें तो वह दूसरों को दे दी जाय। वे खा जायेंगे। अमृत पीना उनको पाप और पुण्य पुण्य हिन्दुओं के पास रह जायेगा। आज यही तो हो रहा है। हम स्वयं अपनी गायें कसाइयों को बेचते हैं। वे यदि गायों को काटते हैं, तो हमारी हिन्दू बुद्धि कहती है कि उस पाप का स्पर्श हमें नहीं होता। मैंने एक आदमी से पूछा कि तुमने अपनी गाय कसाई को बेच कर क्या पाप नहीं किया? उसने पूछा 'इसमें पाप कैसा? मैंने कहा

तुम्हारी गाय को वह कत्ल करेगा। उसका पाप तुम्हें नहीं लगेगा? वह बोला— 'मैंने गाय मुफ्त में थोड़े ही दी है। मुफ्त में देता तो जरूर पाप लगता। मैंने तो उसे बेचा है। बेची हुई वस्तु का क्या होता है यह देखने की जिम्मेवारी बेचनेवाले पर नहीं होती। इस दलील को सुनकर हमारे चित्त पर आघात भी नहीं होता।

खेतों की चकबन्दी नहीं करने का कारण क्या है इसपर जरा विचार करें। उसमें केवल लाचारी है या वह अनुचित है? यदि असली कारण लाचारी है तब तो वह थोड़े दिनों की ही है। उस परिस्थिति के बदलते ही सारी जमीनें एक हुए बिना नहीं रहेंगी। यदि ऐसा करना उचित नहीं है तो इसका कारण बताया जाना चाहिए। परन्तु कारण कोई बता नहीं सकता। इसलिए कि कोई कारण सचमुच है ही नहीं। इसलिए हमें मान लेना चाहिए कि जमीनें एक होने ही वाली हैं। कम से कम मेरे जैसे लोग तो कहते ही रहेंगे कि जमीनों को एक करो। मैं तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म ग्रामीण समाजवाद का माननेवाला हू। और उस दिशा में प्रयत्न भी कर रहा हू। पवनार के बुनकर अलग अलग मजदूरी पाते थे। मैंने उनसे कहा कि सब एकसाथ काम कीजिए और मजदूरी भी समान रूपसे बांट लीजिए। और अब वे ऐसा ही करते हैं। खादी मैं भी मुझे यही करना है।

इस भारतीय समाजवाद का नये सिरे से विचार करना है तो कीजिये नहीं तो सब जानवरों को समान मानकर गाय का भी खात्मा की तैयारी करनी चाहिए। परन्तु यदि उपर्युक्त समाजवाद को मानना है तो मानना होगा कि गाय भी हमारे कुटुम्ब का एक अंग है। और यह भी सबक लेना होगा कि हमने एक निराले ही प्रकार की समाज रचना करने की जिम्मेवारी अपने कन्धों पर ओढ़ ली है। बैलों को मारने का निश्चय करेंगे तभी पश्चिम के समान अपने समाज की रचना आप कर सकेंगे। अगर बैलों को मारना नहीं है तो बैलों से खेती करनी होगी और सारे समाज की रचना उसी के आधार पर करनी होगी। इसलिए हमारी समाज रचना कैसी हो इसपर अच्छी तरह विचार कर लीजिए। मैं

मानता हूँ कि यह बात आसान नहीं है। मैं तो सिर्फ इतनी सी बात आपके सामने रख रहा हूँ कि हमें किस दृष्टि से विचार करना चाहिए। यह केवल सामान्य दया का प्रश्न नहीं। बड़ा व्यापक प्रश्न है।

गाय के दूध देना बन्द करने पर भी बुढ़ापे में उसका पालन करने की जिम्मेवारी या अपने सर पर लेते हैं वे एक बहुत बड़ी जिम्मेवारी अपने पर लेते हैं। यह एक विशाल आदर्शवाद है। उसमें वस्तुस्थिति से इन्कार नहीं। फिर भी है आदर्शवाद ही। इस मार्ग पर चलना है तो आज के जैसी दिलाई से काम नहीं चल सकता। हमें केवल गाय के दूध के सेवन का निश्चय करना होगा। मैं तो कहूँगा कि खादी को छोड़कर मिल का कपड़ा पहनना उतना बुरा नहीं जितना भैंस के दूध की उपेक्षा करना बुरा है। हाँ हम बकरी या ऊँट का दूध काम लेते हों तो बात दूसरी है। परन्तु यह तो बहुत आगे की बात है। उसके लिए यह समय उपयुक्त नहीं है। आज तो हमारे लिए दूध परम आवश्यक है। और अगर दूध लेना ही है तो वह हमें ऐसे प्राणी का लेना चाहिए जिसका हम अधिक से अधिक उपयोग और रक्षण भी कर सकें।

समाज-सेवकों से मुझे एक बात और कहनी है। यदि किसी काम में हमें प्रगति करनी है अथवा नये शोध करने हैं तो वह काम हमें खुद करना चाहिए। गो-सेवा का काम यदि हम करना चाहते हैं तो उसका दूध निकालना, मलमूत्र साफ करना, उसे खिलाना इत्यादि सब हमें स्वयं करना चाहिए। जब तक कोई काम हम स्वयं नहीं करते तब तक हमें उसके विषय में नई नई बातें नहीं सूझ सकतीं। मैंने जो खादी का काम किया है उसके अनुभव से मैं यह बात कह रहा हूँ। जब मैं खादी की सारी प्रक्रियायें खुद करता हूँ तभी मुझे सूझता है कि इसमें कहाँ कहाँ क्या क्या सुधार जरूरी है और वे हो भी सकते हैं या नहीं। यही बात गो-सेवा की भी है।

परन्तु शरीर-परिश्रमात्मक यह काम करने के लिए मैं आपसे कहता हूँ इसमें मुझे एक और भी लाभ है। वह यह कि भारत में शान्ति हो। देश में शान्ति तभी होगी जब देश के पढ़े-लिखे लोग गाँवों के लोगों

के साथ एक रूप होंगे। कहते हैं कि जर्मनी के सेनापति रोमेल से मिलने के लिए एक पत्रकार गया। बहुत तलाश करने पर भी वह नहीं मिल सका। अंत में उसने पाया कि वह एक टैंक की मरम्मत कर रहा है। भारत में क्रान्ति तभी होगी जब भारत के नेता माल ढुहते हुए हल चलाते हुए या बढ़ईगिरी करते हुए पाये जायेंगे। आज पांच हजार वर्षों के बाद भी कृष्ण के स्तुतिमान कौम गा रहे हैं। उसकी विशेषता यही थी कि पूर्ण ज्ञानी होने पर भी वह गोपालों के साथ गोपाल बन कर काम करता था। जबतक हमारे पढ़े लिखे लोग अपढ़ लोगों से अलग रहेंगे तब तक हम देश में क्रान्ति की आशा नहीं कर सकते। अंगरेजों ने भारत की सबसे अधिक हानि यही की कि पढ़े लिखों को वे पढ़ों से अलग कर दिया। अंगरेजी की पढ़ाई के कारण इन दो वर्गों के बीच मानों एक भारी दीवार खड़ी हो गई। इसीलिए मैं युवकों से कहता हूं कि यदि आप क्रान्ति करना चाहते हैं तो आपको स्वयं मजदूर बन जाना चाहिए।

एक बात और है। 'पूर्णमद पूर्णमिदं' अर्थात् वह भी पूर्ण है और यह भी पूर्ण है– यह है आदर्श रचना का सूत्र। जो काम करना हो उसे पूर्ण दृष्टि से कीजिए। खादी पहननेवाले गाय के दूध की परवाह नहीं करते। और गो-सेवक खादी नहीं पहनते। और अन्य ग्रामोद्योगों की लोगों को चिन्ता नहीं। ऐसा क्यों होता है ? तो कहते हैं कि ये महंगे पड़ते हैं। गाय के दूधवाले को ग्रामोद्योग की खादी महंगी पड़ती है। और ग्रामोद्योग वाले को गाय का दूध महंगा पड़ता है। और खादी लोगों को महंगी पड़ती है। मतलब यह कि हम एक दूसरे के मित्र एक दूसरे को महंगे पड़ते हैं। इसीलिए शायद अंगरेजी में 'डीयर फ्रेन्ड' कहते हैं। परन्तु सिर्फ मित्र महंगे पड़ते हैं उनके लिए दुश्मन सस्ते हो जाते हैं। इस प्रकार काम नहीं चल सकता। यद्यपि एक आदमी सब काम नहीं कर सकता हरेक अपने अपने हिस्से का ही काम करेगा। फिर भी समाज-सेवकों को जहांतक भी संभव हो आपस में सहयोगपूर्वक ही रहना चाहिए। काम तो अपने क्षेत्र का ही करें। परन्तु वृत्ति समग्र रक्खें। ऐसा करेंगे तभी सब विभाग जिन्दा रहेंगे। यदि खादी गो-सेवा

ग्रामोद्योग अलग अलग रहकर काम करेंगे तो एक भी जिन्दा नहीं रह सकेगा। मनुष्य जिन्दा कैसे रहता है? जब मन और प्राण एक दूसरे का साथ देते हैं। यही बात हमारे हर काम को लागू होती है।

(खादी जगत् मार्च १९४६)

सीता तो प्रत्येक नारी बन सकती है* १९

यह मान्यता सैकड़ों वर्षों से चली आ रही है कि स्त्रियों की रक्षा का भार पुरुषों पर है। परन्तु जबतक यह मान्यता कायम रहेगी तब तक सही अर्थों में स्त्रियों की रक्षा होना असंभव है। स्त्री को रक्षा की जरूरत है ऐसा मानना गलत है। फिर भी माना तो यही गया है। इसका कारण क्या है? इसलिए कि उसके पास हिंसा के पर्याप्त साधन नहीं हैं। हिंसा के क्षेत्र में तुलनात्मक दृष्टि से वह पुरुष की अपेक्षा कमजोर पड़ जाती है। इसी कारण वह पुरुष द्वारा रक्ष्य समझी गई है। इसमें प्रत्यक्ष ही हिंसा की प्रतिष्ठा को मान्य किया गया है। परन्तु आज की परिस्थिति तो हमें साफ-साफ कह रही है कि जरूरत यह है कि प्रतिष्ठा हिंसा की नहीं अहिंसा की होनी चाहिए।

हमें यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि आत्मा के बल पर हर परिस्थिति में स्त्री अपनी रक्षा करने में समर्थ है। शरीर बल पर अवलम्बित रहने की अपेक्षा आत्मा के बल पर जीने की कला हम सभी को सीख लेनी चाहिए। मैं तो मानता हूं कि जिसे जीवन भर सेवा करनी है उसे आत्मज्ञान अवश्य ही समझ लेना चाहिए। आज आत्मज्ञान शब्द हमें बहुत भारी लगता है। परन्तु यह वस्तु इतनी सरल और आसान है कि एक छोटा-सा बच्चा भी इसे समझ सकता है। गणित का विषय शायद मुश्किल है परन्तु आत्मज्ञान तो गणित से भी आसान है। वर्ड्सवर्थ की एक प्रसिद्ध कविता है— 'वी आर सेवन' अर्थात् हम सात हैं।

* महिलाश्रम वर्धा में ता० ११-५-४६ को दिया गया भाषण।

कविता में एक लड़की अपने मरे हुए भाई को भी गिनती गिनती में करके कहती है कि हम सात हैं। आत्मा की अमरता का भाव उसे सहज है।

यह वस्तु समझना आज कठिन इसलिए है कि आज हमारा सारा जीवन शरीर-प्रधान बन गया है। सौंदर्य के बारेमें या बल के बारेमें भी हमारी दृष्टि शरीर प्रधान ही है। जबतक शरीर-परायणता बनी रहेगी तबतक स्त्रियों के चित्त में भी सदा भय बना ही रहेगा। दुष्ट करनेवालों ने लोगों की इस शरीर-परायणता का बहुत अधिक लाभ उठाया है। इसीसे भय पैदा हुआ है।

हमारे एक शिक्षक मित्र बेंत की महिमा का वर्णन करते थे। एक लड़का रोज देर से स्कूल पहुंचता था। उसे बहुत समझाया। परन्तु उसपर कोई असर नहीं हुआ। बेंत दिखाते ही बात उसकी समझ में आगई और वह समय पर आने लगा। परन्तु इसका परिणाम क्या हुआ? शिक्षक ने उसे नियमित तो बना दिया। परन्तु इसके साथ ही भीरु भी बना दिया। परन्तु मैं कहता हूं इस प्रकार भीरु बनने की अपेक्षा वह देर से ही आता रहता तो कहीं अच्छा होता। निर्भयता छोड़कर दूसरे किसी भी गुण का मैं स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। चिन्तामणि खोकर कांच कौन लेगा?

जबतक मनुष्य को भय का स्पर्श नहीं होता उससे कभी पाप नहीं होता। इसलिए माता-पिता और शिक्षकों का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि बच्चों को निर्भय बनने की शिक्षा दें। वे कभी बच्चों को नहीं मारें। और इसके साथ-साथ उनके दिल पर यह भी अंकित कर दें कि उनको कोई कितना ही मारे तो भी मार के भय से एक न झुके। हमारे घरों और आममसंस्थाओं में बच्चों को यही शिक्षा मिलनी चाहिए। ऐसा करने से ही हमारे दिलों में अहिंसा का विकास होगा। रामायण में हम सीता का वर्णन पढ़ते हैं। रावण उसे ऐसी बातें कहता जिससे उसे रोष आता। परन्तु वह उससे एक अक्षर भी नहीं बोलती थी। केवल एक बार बोली। सो भी बात का एक तिनका बीच में रखकर। इसके द्वारा उसने रावण को यह दिखाने का प्रयत्न किया कि मैं तुझे इस घास के तिनके के बराबर समझती हूं। रावण उसका कुछ भी नहीं कर

सका। हमें नहीं मानना चाहिए कि सीता का उदाहरण असामान्य है। अगर ऐसी बात होती तो यह उदाहरण हमारे सामने क्यों रखा जाता? करोड़ों की अप्सरा अवश्य ही हर स्त्री नहीं हो सकती। परन्तु सीता तो प्रत्येक हर स्त्री हो सकती है। क्यों कि यह आत्मा का विषय है। आत्म बल पर निर्भय मनुष्य की आंखों में एक प्रकार का तेज होता है। उसका असर दूसरों पर अवश्य ही पड़ता है। इस तेज को पशु भी पहचान लेते हैं।

वाल्मीकि और नारद की कहानी तो सब जानते हैं। वाल्मीकि ने कितने ही लोगों की हत्या की। परन्तु नारद के समान निर्भय मनुष्य उसे अभी तक नहीं मिला था। अब तक उसे जितने भी लोग मिले था तो वे डर के मारे भागते या उस पर झपटकर हमला करते थे। ईश्वर पर चमत्कारी की बातें समझानेवाले सबसे पहले पुरुष उसे नारद ही मिले। इसका परिणाम यह हुआ कि जो मनुष्य एक हिंसक भील था वह एक महान् ऋषि बन गया। इस कहानी में जीवन का एक महान् सिद्धान्त भरा हुआ है। अगर हम निर्भय और शांत रहें तो हम पर आक्रमण करने के लिए उठाया हुआ हाथ वहीं का वहीं रह जायगा।

एक गृहस्थ ने मुझे पूछा कि महिलाश्रम जैसी संस्था पर यदि गुंडे हमला कर दें तो क्या किया जाय? इसका जवाब बिलकुल आसान है। अगर सभी को बचे तो आक्रमण होते ही बिगुल फूंक कर सबको एकत्र कर लिया जाय और भगवान् का भजन शुरू कर दिया जाय। परन्तु इसके लिए श्रद्धा की जरूरत है।

इसके विपरीत ऐसा समझिए कि आश्रम की बहनों के हाथों में हम तलवारें दे दें। परन्तु संभव है आक्रमण करनेवालों के पास तलवारों की अपेक्षा अधिक तेज हथियार हों। तब हमारी तलवारें किसकी रक्षा करेंगी। इस महायुद्ध में पशुबल की विफलता का हम काफी दर्शन कर रहे हैं। एक तरफ दस-दस बीस-बीस लाख की सेनायें आक्रमण करती हैं और दूसरी तरफ यह भी देखा कि कितनी ही बड़ी सेनायें कर अपनी जान डाल कर शरण में जाती हैं। जब इतिहास

देखता है कि सामनेवाला उससे बलवान् है तो वह अपने हथियार डाल देता है। अंत तक लड़ते रहने की बातें तो बहुत लोग बोलते हैं।

इसलिए मैंने शुरू में कहा कि हमें आत्म-शक्ति पर निर्भर रहना चाहिए। स्त्रियों में भी आत्म-शक्ति की कमी नहीं होती। परन्तु उसे प्रकट करने के लिए जीवन को ऐसा बनाना होता है। खाने के लिए नहीं जीयें बल्कि जीने के लिए खायें। जिस प्रकार हम मकान का किराया देते हैं या चरखा अच्छी तरह चले इसलिए उसे तेल देते हैं उसी प्रकार शरीर से अच्छी तरह काम लेने के लिए उसे आवश्यक पोषक खाद्य दें। दीपावली के दिनों में हम चरखे में चमेली का तेल नहीं देते। इसी प्रकार केवल ऐश या विलास के लिए नहीं नितान्त आवश्यकता का हिसाब लगाकर शरीर का खुराक दें। क्यों कि यह एक शास्त्रीय प्रयोग है। उसम भोग-विलास के लिए स्थान नहीं है। भोग विलास पर आधारित जीवन मौके पर काम नहीं देता।

यदि एक आदमी दूसरे से कहे कि 'तुम्हें मुसलमान बनना ही पड़ेगा नहीं तो हम तुम्हारी जान ले लेंगे' तब वह उसे साफ साफ समझा कर कहे कि 'मेरे भाई मुसलमान बनने के लिए एक खास प्रकार की श्रद्धा की जरूरत होती है। ऐसी श्रद्धा कभी जबरदस्ती से पैदा नहीं की जा सकती। इतना कहने पर भी यदि वह निरा मूर्ख हो और कहे कि 'मैं कुछ नहीं जानता कलमा पढ़ो नहीं तो मरने के लिए तैयार हो जाओ' तो वह उसे शान्तिपूर्वक कह दे कि 'अरे भाई मरना तो सभीको है। कोई आज मरेगा कोई कल। अच्छा मार डालना चाहता है? ले मार' परन्तु इसके विपरीत यदि वह उस आदमी की बात चुपचाप मान लेगा तो उसके तुच्छ शरीर की भले ही किसी प्रकार बचाव रक्षा हो जाय परन्तु उसकी आत्मा का बड़े-से-बड़ा अपमान होगा। अपमानित होकर जिन्दा रहने की अपेक्षा मर के मुक्त हो जाने की शक्ति यदि हमारे अन्दर होगी तो एक छोटा-सा बच्चा भी निर्भयता के साथ किसी भी संकट का सामना कर सकेगा।

व्यवस्थित रहने की तालीम तो हमें बचपन से लेनी चाहिए। कहीं बात बन जाय तो उसे व्यवस्थापूर्वक सुलझाने की कला हमें अवश्य आनी चाहिए। यह शिक्षण हमें कवायद से और लाठी के खेल से मिल सकता है। परन्तु इतने से काम नहीं चलेगा। शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान आपको जरूर हो। यदि यह ज्ञान हमें होगा तो शरीर की चिन्ता न करते हुए हँसते-हँसते मृत्यु का सामना करने में ये खेल हमारी मदद कर सकेंगे।

महिलाश्रम में देश के सब भागों से बहनें आती हैं। वे यहां पर सुन्दर संस्कार और शिक्षण प्राप्त करती हैं। आप सब इस तरह निर्भयता पूर्वक जीने और मरने की कला सीख लेंगी तो आपकी भावुक परिस्थिति में देश की बहुत बड़ी सेवा कर सकोगी और परम श्रेय प्राप्त करोगी

(मराठी हरिजन २१ जनवरी १९४०)

क्रान्ति करना तो अभी बाकी है* १७

मेरे परम प्रिय मित्रो

आपके इस प्रान्त में आए मुझे २५ वर्ष होगए। परन्तु इतने वर्षों में आपके सामने बोलने का यह पहला ही प्रसंग है। मराठी में कहावत है न "जवळ आहे पंढरी पेठ नाहीं संसारीं" "भाई पास पड़ोस में घर मिले नहीं जीवन में"—ऐसा हमारा हाल हुआ। पास में होते हुए भी मैं यहां नहीं आ सका। क्यों कि मैं अपने कामों में ही मगन रहता हूं। और फिर बोलनेवाले लोग काफी हैं। इसलिए यथासंभव मैं बोलने को टालता हूं। लोग कहते हैं कि आप तो बहुत अच्छा बोलते हैं। फिर बोलते क्यों नहीं? मैं कहता हूं कि 'मैं बोलना जानता हूं इसीलिए नहीं बोलता। अगर बोलना आता नहीं होता तो बहुत बोलता। तब मैं

*अमरावती में महारोगी-सेवा-मण्डल की शाखा का उद्घाटन भाषण

कहते हैं 'आपको बोलना चाहिए ।' मैं कहता हूं कि 'मेरी एक शर्त है। आप बोलना बन्द कीजिये फिर मैं बोलूंगा ।'

यदि आप विचार करें, तो आप देखेंगे कि भारत में पहले कभी काम करने की जितनी जरूरत नहीं थी उतनी आज है। हम कहते हैं कि आज हमारे हाथों में सत्ता आ गई है। परन्तु सच्ची सत्ता अभी नहीं आई है। अभी तो हम स्वराज्य के केवल मार्ग पर आए हैं। हाथों में सत्ता के आते ही अनेक भय निर्माण हो जाते हैं। यदि इन भयों को टालना है तो निरन्तर सेवा करते रहना चाहिए। कांग्रेस का यह दावा था और आज भी है कि वह गरीबों के लिए स्वराज्य चाहती है। गरीबों की सेवा का दावा करनेवाली और उनके लिए लड़नेवाली इतनी बड़ी संस्था सारे संसार में नहीं है। और यदि कांग्रेस का इतना बड़ा दावा है तो उसे सही सिद्ध करने की आज सबसे अधिक आवश्यकता है। आज ऐसी स्थिति है कि जिस प्रकार नदियां चारों ओर से निकल के ग्राम की तरफ दौड़ कर जाती हैं उसी प्रकार जनता के समस्त सेवकों को आज चारों तरफ से सेवा के लिए दौड़ पड़ना चाहिए। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो लोग निरंकुश हो जायेंगे और कार्यकर्ता सुस्त। यह सेवा से ही टाला जा सकता है। सेवा के बगैर ये दोष दूर नहीं होंगे।

सर्वसाधारण लोग निरंकुश हो जायेंगे मेरे इस कथन का सत्य केवल इसी से प्रकट हो गया कि लोग कितनी छोटी-छोटी बातों पर हड़तालें करने लग गए। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। सैकड़ों वर्षों से दबी हुई जनता अधिक उच्छृंखल नहीं हुई यही आश्चर्य की बात है। यह सेवा से ही टल सकता है। मार-पीट उपद्रव आदि को रोकने का एक मात्र उपाय सेवा ही है।

कांग्रेस का दावा है कि हमें ग्राम-राज्य की स्थापना करनी है। गांवों को संगठित और स्वावलंबी करना है। यदि ऐसा है तो आज एक भी आदमी भूखा नहीं रहेगा ऐसी चिंता रखनी चाहिए। गांव की सफाई, शिक्षण आरोग्य आदि का प्रबन्ध कौन करेगा ? यदि हम यह सोचेंगे कि सरकार सब कुछ करेगी तो यह गलत होगा। सरकार के हाथों में जो

सत्ता आई है, केवल उसके भरोसे हम रहेंगे तो हम पराधलंबी बन जायेंगे। इसलिए हमें सबसे पहले स्वावलंबी बन जाना चाहिए। जिन दिनों हमारे हाथों में सत्ता नहीं आई थी उन गांवों में जा कर काम करने में अनेक प्रकार की रुकावटें थीं। आज ऐसी कोई रुकावटें नहीं हैं। इसलिए गांवों के लोगों से जाकर हमें कहना चाहिए कि भाइयों अब आप अपनी स्वतंत्र सरकार बना लिजिए। अपने लिए न्याय भी आप ही कर लें और अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध भी खुद ही कर लें। अपने गांव का सारा काम खुद आपको कर लेना चाहिए।

कोई कहता है, मैं जेल में गया था। मुझे चुनिए। मैंने यह किया वह किया इसलिए मुझे यह या वह पद मिलना चाहिए। यदि इस प्रकार कोई अपने हक जताने लगे और उसका उपभोग करने की वृत्ति जताने लगे तो समझ लीजिए कि क्षय का प्रारम्भ हो गया। उसमें त्याग से यदि भोग-वृत्ति बढ़ती है तो वह स्वराज्य टिकनेवाला नहीं है। हमें सिर्फ अपने स्वराज्य की ही रक्षा नहीं करनी है, बल्कि समस्त संसार की स्वतंत्रता को सिद्ध करना है। बच्चे के गीत में कहते हैं न "विश्व-विजय करके दिखलाएं तब होवे प्रण पूर्ण हमारा। अर्थात यह करके दिखाना है कि समस्त संसार में एक भी राष्ट्र गुलाम नहीं रहेगा। जबतक यह नहीं होगा हमारा कार्य अधूरा ही माना जायगा। इसलिए कार्यकर्ताओं के आलसी बनने से अकसाने लगने से काम नहीं चलेगा। इसीलिए मैं कह रहा हूं कि यह सेवा करने का समय है। जिस-जिस के मन में लगन है उसे अपने अपने ढंग से सेवा करने के लिए दौड़ पड़ना चाहिए।

एक सज्जन ने हमसे पूछा— "हम गृहस्थ हैं। हम बहुत अधिक तो नहीं कर सकते परन्तु यह बताइए कि घर पर बैठे बैठे हम क्या कर सकते हैं?" मैंने कहा— घर पर बैठे बैठे आप जो कर सकते हैं ऐसा ही काम आपको बताऊंगा। अपने घर में एक हरिजन बच्चे को रख लीजिए। आपके तीन लड़के हैं। तो उसे चौथा लड़का समझ लें। क्या चार लड़के होते तो उसे आप छोड़ देते? तब वह सज्जन कहने लगे—"फिर तो लोग हमें गांव में रहने भी नहीं देंगे। मैंने कहा "यही तो हमें करना

है। क्रान्ति इसीको कहते हैं।' घर के चूल्हे तक ठेठ समाज के स्तर तक पहुंच जाय ऐसी ही हलचल हमें करनी चाहिए। लोग कहते हैं 'हमारे मन में अस्पृश्यता नहीं है। मैं कहता हूं आपके मन को कौन पूछता है? आप अपने घर में हरिजन को रखने के लिए तैयार हैं क्या? तब कहते हैं घर में मां राजी नहीं होती। मैं कहता हूं मां हरिजन को वहां बैठाने वहीं आप भी बैठें। सच तो यह है कि यह सब टालने की बातें हैं।

मुझे विद्यार्थी हमेशा कहते हैं—हमें तो क्रान्तिकारी कार्यक्रम चाहिए। तो मैं कहता हूं क्रान्तिकारी कविता बनाकर आपको दे दूं? क्या क्रान्ति कहलाएगी? यदि विद्यार्थी सच्चे दिल से चाहें तो वे बहुत कर कर सकते हैं। भारत की गरीब जनता तपी हुई जमीन के समान तप गा है। बारिश की भांति वह सेवकों की राह देख रही है। लोग मुझे कहते हैं—जनता कातने के लिए तैयार नहीं है। परन्तु मेरा अनुभव इससे भिन्न है। मैंने एक कार्यकर्ता को किसी गांव में भेजा। वहां सभा बुलाई गई। प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि अपनी जरूरत के लायक कपड़ा अपने गांव में ही तैयार करना है। इसलिए कताई सिखाने और कपड़ा बुनवाने का प्रबन्ध कर दिया जाय। लोग प्रस्ताव करके रुक नहीं गए। सब के दस्तखत लेकर वह प्रस्ताव मेरे पास भेज दिया गया। जनता के पास जाइए तो। वह आपकी राह देख रही है। मैं अपनी सारी शक्ति और भावना को बटोर कर आपसे कहना चाहता हूं कि यदि स्वराज्य सचमुच आ गया है तो जिस प्रकार सूर्योदय के समय सारे पक्षी एकत्र हो जाते उसी प्रकार स्वराज्य के सूर्योदय के बाद भी चारों तरफ से कार्यकर्ता एकत्र होने लगेंगे। लोग आपकी बातें मानने लगेंगे और तब क्रान्ति आसान हो जायगी। आज अभी क्रान्ति नहीं हुई है। क्रान्ति करना तो अभी बाकी है।

(मराठी हरिजन ६-१ १९४९)

विवाह का प्रश्न*

विवाह के बारे में माँ-बाप सलाह दे सकते हैं, मदद कर सकते हैं। परन्तु निर्णय तो लड़की का ही मानना चाहिए। माँ-बाप की सलाह सहज रूप में ही लड़की को जँच गयी तब तो कोई बात ही नहीं। पर यदि नहीं जँची तो माँ-बाप को दुखी नहीं होना चाहिए। इस पर भी यदि उन्हें दुख हो तो उसमें लड़की का कोई दोष है, यह मानने को मैं तैयार नहीं। केवल माँ-बाप के संतोष के लिए ऐसी बात जिसे हृदय स्वीकार न करे, कभी मान्य नहीं करनी चाहिए कारण कि जो बात हृदय को जँचे नहीं उसे करना अपने हृदय को धोखा देना है। और, हृदय को धोखा देना अधर्म है। उससे आखिर माता-पिता को धोखा देने जैसा ही फल होगा।

जिसके प्रति तुम्हारे मन में विशेष अनुराग है परन्तु तुम्हें पक्का मालूम है कि वह तुम्हें चाहता नहीं उसके साथ विवाह करने की कल्पना तुम्हें छोड़ ही देनी चाहिए। जिस प्रकार सबके प्रति सद्भावना होनी चाहिए, वैसे ही उसके प्रति भी रखनी चाहिए। परन्तु यदि ऐसा तटस्थ भाव रखना असंभव हो और तीव्र प्रेम का अनुभव आता हो और इतने पर भी उसकी ओर से कोई अनुकूल उत्तर न मिलता हो तो शारीरिक विवाह का विचार छोड़कर उस व्यक्ति को परमात्मा का प्रतीक मानकर उसका मानसिक रूप से वरण कर लेना चाहिए और ब्रह्मचर्य व्रत से रहते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिए। यह सब तुम्हारे ऊपर कहाँ तक लागू होता है, मुझे मालूम नहीं। यह आत्म-परीक्षण करके तुम्हें स्वयं निश्चित कर लेना चाहिए। मेरा उत्तर स्वयं में पूर्ण है। हरएक अपनी स्थिति देखकर उसका विनियोग अपने ऊपर कर सकता है।

और भी अनेक सूचनाएँ देना चाहता हूँ। अपनी मनःस्थिति का वास्तविक ज्ञान बहुत बार मनुष्य को होता ही नहीं। वस्तु का यथार्थ दर्शन बहुत पास से भी नहीं होता और न बहुत दूर से ही होता है।

(*एक लड़की को लिखे गये पत्र से)

कोई अन्तर से उसका ठीक दर्शन होता है । पास रहकर बहुत चिन्ता और चिन्तन करने से भी जो बात ध्यान में नहीं आती वही कोई समय बाद अपने-आप ध्यान में आ जाती है । इसलिए मानसिक व्याकुलता तो छोड़ ही देनी चाहिए ।

माता सहज प्राप्त होती है उसे चुनना नहीं पड़ता । उसी प्रकार ईश्वर की योजना में पति भी सहज प्राप्त होता है ऐसी श्रद्धा रखी जाय तो व्याकुलता कम होगी। कारण परमेश्वर कोई शारीरिक वस्तु तो नहीं मानसिक है । सारे विश्व की ओर परिपूर्ण प्रेम से देखने को सीखने के लिए लग्न (विवाह) आदि ये प्रयोग हैं ।

हृदय के विरुद्ध कोई काम न करना । धीरज से काम लो और ईश्वर पर श्रद्धा रखो । जब-जब कुछ पूछना हो खुशी से पूछना ।

तुम्हारा व्यक्तिगत परिचय मुझे नहीं है । इसकी आवश्यकता भी नहीं है क्यों कि इस शरीर को तो भूलना ही है ।

मराठी हरिजन २०-१ ४९

आज भारत की स्थिति बड़ी कठिन है । एक तरफ तो हमारे हाथों में सत्ता आ रही है । दूसरी तरफ क्या क्या घटनाएं हो रही हैं उन्हें आप जानते ही हैं । आज स्वराज्य बिल्कुल नजदीक सा आगया है । परन्तु इन सब घटनाओं को देखकर यह आशंका भी होने लग गई है कि कहीं वह फिर दूर नहीं चला जाय । इसलिए मैं कहता हूं कि भारत के स्वराज्य का प्रश्न मुख्यतः हमारी सामाजिक एकता का प्रश्न है । यदि हम एक होकर रहते हैं तो स्वराज्य हमारे हाथों में ही है । यह नहीं

---

* हरिजनों के लिए होटल खुले करने के प्रश्न पर वर्धा में ता ४-१२-४६ को दिया गया भाषण

बा नहीं सकता । परन्तु यदि हममें फूट पड़ गई तो यह दुर्लभ हो जायगा ।

गांधीजी अपने जीवन के द्वारा पिछले पच्चीस वर्षों से हमें यही बात सिखाते रहे हैं । परन्तु उनके इतने प्रचार और प्रयत्नों के बाद भी हम देखते हैं कि भारत के लोग अभी बचे नहीं हैं । गांधीजी ने हमको एक शब्द दिया–'अहिंसा' । अहिंसा का अर्थ निष्क्रियता नहीं है । अहिंसा एक महान् शक्ति है । शक्ति की उपासना करनी पड़ती है । अहिंसा की उपासना का अर्थ क्या है ? यह कि भारत में हम जितने भी लोग रहते हैं हम को भाई भाई की तरह रहना चाहिए । आपस में प्रेम का व्यवहार करना चाहिए । हम किसी को भी नीच नहीं समझें । ऊंचा भी नहीं समझें । किसी को डरावें नहीं । न किसी से डरें । यह है अहिंसा की उपासना । इस प्रकार हम जरूर बलवान् हो सकते हैं । फिर भारत को किसी भी शस्त्र की जरूरत नहीं रहेगी । परन्तु इसके विपरीत यदि हम प्रेम से नहीं रहेंगे तो भारत में जितने भी प्रश्न खड़े होंगे उनका निर्णय मारपीट और हिंसा के द्वारा ही करना पड़ेगा । अर्थात् तीसरी सत्ता का राज्य रहने के समान ही हमारा हाल होगा ।

इसलिए मेरा तो शस्त्र-शक्ति पर तिलमात्र भी विश्वास नहीं है । शस्त्र दुर्बल वस्तु है । उसमें अपनी कोई शक्ति होती नहीं । हम अपना बल उसे देते हैं, तब उसमें बल आता है । उसे अपनी शक्ति देने के बजाय हम अपने आपको ही यह बल क्यों न दें ? इसलिए गांधीजी ने यह आत्मशक्ति हमारे सामने रक्खी है । और इसकी परीक्षा लेने के लिए आज वे नोआखली जा पहुंचे हैं ।

लोग कहते हैं कि यहांपर हिन्दू-मुसलमान हरिजन-सवर्ण इत्यादि भेद हैं इससे अंगरेज अनुचित लाभ उठाते हैं । परन्तु मैं कहता हूं कि हम उन्हें ऐसा अनुचित लाभ उठाने का मौका ही क्यों दें ? हम इन भेदों को क्यों नहीं मिटा दें ? हरिजनों और सवर्णों के बीच का भेद मिटे इसके लिए गांधीजी ने सन १९३२ में उपवास किया । आज उस बात को १४ वर्ष हो गये हैं । इतने समय में अस्पृश्यता कुछ ढीली भले ही हो गयी

परन्तु निर्मूल नहीं हुई । अभी भी मुझ जैसे को यहां आकर यह भाषण देना पड़ रहा है । मुझे ऐसा लगता है कि अब हमारे लोगों का दिल तैयार हो गया है। इस समय कुछ प्रबल किया जाय तो अस्पृश्यता दूर हो सकती है ऐसी आज परिस्थिति है।

सर्व-सामान्य जनता में सदा ही एक प्रकार की जड़ता रहती है। इसे शास्त्र में 'इनर्शिया' कहते हैं। यह समाज की स्थिरता के लिए कुछ आवश्यक भी होता है। इनर्शिया के मानी हैं पूर्वस्थिति बनी रहे। मंद मंद हो गया तो बन्द ही रहे और चल रहा है तो उसे कौन बन्द करे! यह वृत्ति रहती है। इसलिए जनता को स्वतन्त्र रूप से कुछ सूझता नहीं। परन्तु नेता यदि कुछ चालना देवें तो जनता में भी कुछ हल-चल शुरू हो जाती है। एक गांव में हरिजनों के लिए मन्दिर खोल दिया गया। क्यों कि वहां के बड़े लोग इसके अनुकूल थे। दूसरे गांव में यह नहीं हो सका क्यों कि वहां के बड़े लोग अनुकूल नहीं थे। परन्तु इस प्रकार हमारा काम नहीं चल सकता। मैंने सुना है कि मद्रास और उत्कल (उड़ीसा) में कुछ मंदिर हरिजनों के लिए खोले जा रहे हैं। महाराष्ट्र में भी कुछ स्थानों पर मंदिर खोले जा रहे हैं। परन्तु इस समय तो सारे के सारे मन्दिर खुल जाने चाहिए। आज मैं गणित से काम लेना नहीं चाहता। यह क्रान्ति का समय है। क्रान्ति धीरे-धीरे नहीं होती। सारे मन्दिर, सारे होटल सारे सार्वजनिक स्थान हरिजनों के लिए एकदम खुले ही जाने चाहिए।

मैं एक भविष्य-वाणी करता हूं कि जिस दिन भारत से अस्पृश्यता दूर हो जायगी उसी दिन हिन्दु-मुसलमानों के झगड़े भी आपनेआप समाप्त हो जावेंगे। इतिहास के जानकार इस बात को तुरन्त समझ जावेंगे। कल दिन कर्णाटक के एक सज्जन कह रहे थे कि हमारे यहां लिंगायत ब्राह्मण वाद बहुत है। महाराष्ट्र में ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर वाद है। परन्तु जिस दिन अस्पृश्यता दूर हो जायगी उस दिन ये सारे वाद अपना आप समाप्त हो जावेंगे। जो लोग सबसे अधिक दुखी और दबे हुए हैं उनको ऊपर चढ़ाते ही अन्य छोटे-मोटे भेदभावों के लिए कोई स्थान ही नहीं

रह जायगा। इसको मिटाने के लिए अलग से स्वतंत्र प्रयत्न करने की जरूरत ही नहीं रहेगी।

होटलवाले कहते हैं, हरिजनों को अन्दर कैसे आने दें ? मैं कहता हूं अरे भाई, आप तो सेवक हैं ना। सेवक का धर्म क्या है ? क्या अस्पताल में आनेवाले की जात-बिरादरी भी पूछ ताछ डॉक्टर करते हैं ? उनका धर्म और कर्तव्य है कि वहां जो भी रोगी आवे उसकी सेवा करें। इसी प्रकार आप होटलवालों का यह धर्म है कि जो भी भूखा आवे उसे खाना दें। खाना देना एक जन-सेवा है। मिहनत के पैसे के लिये इस कारण उसमें से सेवा कभी नहीं जाती। इसमें तो जातपांत पूछने का प्रश्न ही खडा नहीं होना चाहिए। और फेर मान लीजिए कि आपने पूछा और उसने 'महार' (अछूत) होने पर भी 'मराठा' बता दिया तो आप कैसे पहचानेंगे ? इसलिए जातपांत पूछना मैं केवल जाहिलपन समझता हूं। उनकी धार्मिक वृत्ति का आदमी भूखे को प्रेम से खिलाएगा। वह जातपांत का विचार नहीं करेगा। दुखी मनुष्य का दुख दूर करना स्वाभाविक मनुष्य का काम है। यही हमारी पुरानी परंपरा है।

और जो बात होटल की है वही मन्दिर की भी है। वाँ ईश्वर दर्शन है। परन्तु मनुष्य एक भावना को लेकर मन्दिर में दर्शन के लिए जाता है। पुजारियों को सोचना चाहिए कि यदि एक आदमी भगवान् से मिलने के लिए आया है तो उनसे उसे मिला देना हमारा काम है। मन्दिर में पापी भी आवे और भक्त भी आवे। पापी अपने पापों के लिए क्षमा मांगने के लिए और भक्त भक्तिभाव से प्रणाम करने के लिए। 'तू जा' और 'तू मत आ' यह कहनेवाला मैं कौन होता हूं ? हरिजन* पंढरपुर को जाता है और उसे पांडुरंग के दर्शन भी नहीं हो पाते। मंदिर के कलश को देखकर वह लौट जाता है। और मास खाना छोड देता है। ऐसे अनेक हरिजनों को मैंने देखा है। परन्तु उन्हें मंदिर में नहीं आने दिया जाता। इसके विपरीत दूसरी जातियों के लोगों को जो कभी कभी मास भी खा लेते हैं मन्दिर में प्रवेश मिल जाता है। यह कैसा न्याय है ?

*अब पंढरपुरका मंदिर सब वर्गोंके लिए खुला हो गया है।

यह सब विवेक के अभाव में होता है। मैं तो स्पष्ट रूप से कहता हूं कि इस धर्म इस संस्कृति और इन पंथों की—सबकी केवल समत्व की एक कसौटी पर परीक्षा होनेवाली है। भिन्न भिन्न युगों में भिन्न भिन्न गुणों की सत्ता चलती है। आज के युग का सम्राट समत्व है। इसलिए धर्म के नाम पर भेद भाव का संसार कदापि बरदाश्त नहीं करेगा। मुझे बहुत से हिन्दुसभा वाले मिलते हैं और कहते हैं कि कांग्रेस हिन्दुओं की रक्षा नहीं कर सकती। उनसे मैं पूछता हूं कि आप क्यों नहीं करते? मुसलमानों के द्वेष पर अपनी इमारत खड़ी करने की अपेक्षा हिन्दू समाज में जो फूट की बीमारी लगी हुई है उसे दूर करने में आप अपनी शक्ति क्यों नहीं लगाते? सारे भारत में अब भेद नाम की चीज ही नहीं रहनी चाहिए।

परन्तु जब मैं भेद दूर करने की बात कहता हूं तब कोई मेरा मतलब यह नहीं समझे कि मैं विशेषताओं को मिटा देना चाहता हूं। सा रे ग म के स्वर-भेद से जिस प्रकार सुन्दर संगीत का निर्माण होता है इसी प्रकार हमारी इन विशेषताओं में से भी एक सुन्दर संगीत निर्माण होना चाहिए। भारत में अनेक धर्म अनेक पंथ अनेक जातियां अनेक भाषाएं हैं। लोग कहते हैं कैसी अजीब खिचड़ी है? मैं कहता हूं यह खिचड़ी नहीं बटवृक्ष है। रवीन्द्रनाथ ने तो इसे महासागर कहा है। महासागर के वक्षस्थल पर जिस प्रकार अनंत लहरें लहराती रहती हैं उसी प्रकार यहांपर भी अनेक मानव समाज क्रीड़ा करते रहे हैं। यह हमारा वैभव है। भगवान् अगर मुझे हाथ पांव कान नाक आंखें इस प्रकार विविध अवयव नहीं देता और केवल एक मांस-पिण्ड बना देता तो मेरी क्या हालत होती? इसके विपरीत मेरे ये विविध अवयव आपस में लड़ने लगजाते तब भी मेरी क्या हालत हो?

भारत में बहुत-से भेद हैं। क्यों कि हमारा यह देश बहुत प्राचीन है। पश्चिम के ये अनेक राष्ट्र इसके सामने बच्चे हैं। भारत में हूण आए, शक आए यहूदी आए पारसी आए मुसलमान आए और ईसाई आदि आए। और अब तो चीनी भी आनवे हैं। यह एक बहुत बड़ा संग्रहालय है। यहां पर अनेक धर्म अनेक विद्याएं, भाषाएं तथा कलाएं विकसित हुई हैं। इसीलिए मैं कहता हूं कि यह देश बड़ा वैभवशाली है।

परन्तु हृदय में प्रेम का उदय होना चाहिए। तब उसकी शक्तियां प्रकट होंगी।

शक्ति से मुझे शक्ति देवी की याद आती है। उसकी भुजाएं अनेक होती हैं परन्तु हृदय मात्र एक ही होता है। विराट पुरुष के भी हजारों हाथ बताये हैं। परन्तु उसका भी हृदय एक ही बताया गया है। इसी प्रकार हमारे सब का भी हृदय एक ही हो। यदि ऐसा हुआ तो स्वराज्य हाथ में ही है। अन्यथा हाथों में आया हुआ स्वराज्य भी चला जायगा।

(मराठी हरिजन ८-१२-१९४९)

हमारी धर्महीनता का निशान—कालाबाजार २०

हम कहते हैं कि भारत धर्म प्रधान देश है। हम समय से समय यह अभिमान प्रकट करते रहते हैं कि हमारी यह भूमि पुण्य भूमि है। बाहर के लोग भी हमारे बारे में यही कहते हैं। उनके इस प्रमाणपत्र से तो हम और भी फूल जाते हैं। प्रसिद्ध चीनी लेखक लिन यूटांग ने लिखा है कि "भारत धर्म-भावना से मुग्ध ईश्वरी मद से मस्त गॉड इन्टॉक्सिकेटेड' देश है।' इस विषय में चीन और भारत में कितना अन्तर है यह बताते हुए वह कहता है—"चीन भारत के विरोधी सिरे पर है। चीन अति व्यावहारिक है। भारत अति धार्मिक है। दोनों राष्ट्रों को अपना अपना यह अतिरेक कम करना चाहिए।

परन्तु आज हमारे देश की हालत क्या है? आज हमारे अन्दर अति धार्मिकता दिखती है या योग्य धार्मिकता है या धर्महीनता है? लाखों लोग भूखों मर गये फिर भी हमारा कालाबाजार जारी ही रहा। आज हमारी सरकारें आयीं। फिर भी कोई खास फर्क नहीं दिखाई देता। एक दिन एक मजदूर कह रहा था— 'कन्ट्रोल का रेट है रुपये की पांच सेर ज्वार। बाहर के व्यापारी आते हैं और चार सेर के भाव में चुपचाप माल ले जाते हैं। और हमें तीन सेर के भाव में फुटकर ज्वार खरीदनी पड़ती है। फिर भी कहते हैं हमारा स्वराज्य। यह कहां का स्वराज्य है?

जहाँ कालाबाजार चलता है वहाँ स्वराज्य कैसा ? यह है उस अपढ़ ग्रामीण की कल्पना । हम पढ़े लिखों के पास इसका क्या जवाब है ?

परन्तु एक बार एक चतुर व्यापारी से मेरी बातचीत हो रही थी । आप 'कालाबाजार' 'कालाबाजार' कहते हैं । परन्तु हमारा तो यह सदा का धन्धा है । कमाई के अवसर को जो हाथ से खोनेवाला व्यापारी है वह व्यापारी ही नहीं । चीज सस्ते से सस्ते भाव में खरीदी जाय और उसका भाव ऊँचे से ऊँचा पहुँच जाय तबतक उसे रख छोड़ना और अवसर बेचते समय जिस भाव में बेचते बने उस भाव में बेच दी जाय । यह हमारा हमेशा का नियम है । आजकी हालत में यह लोगों को अधिक अखरता है— केवल इतनी सी बात है । और इसके लिए कोई इक्का दुक्का व्यापारी जिम्मेदार नहीं । आज की व्यवस्था ही इसके लिए जिम्मेदार है । इसे बदलने का काम सरकार का है । ये लोग इस काम को ठीक से नहीं कर सकते । ऐसी हालत में आपके कहने के माफिक अकेला कोई व्यापारी कुछ करने बैठे तो यह सच्चाई नहीं मूर्खता होगी ।

यह है उस व्यापारी की बात । उसने अपनी तरफ से यह बात बिलकुल शुद्ध बुद्धि से कही थी । उसकी बात सुनकर मैं विचार में पड़ गया । आज के कालेबाजार को छोड़कर मैं हमेशा के सफेदबाजार पर विचार करने लगा । भारत के किसी भी शहर या गाँव के बाजार में प्रति दिन क्या होता रहता है ? दुकानदार और ग्राहक एक दूसरे की तरफ किस दृष्टि से देखते हैं ? दुकानदार अपनी चीज की कीमत बढ़ाकर बताता है । ग्राहक उसे उचित से कम मूल्य में माँगता है । कुछ देर लड़ाई भी खिंचतान चलती है । और अंत में कुछ भाव तय होता है । क्या यही बात भारत में प्रतिदिन नहीं होती ? दूसरों की बात छोड़िए । परन्तु बाजार में यदि एक बच्चा चला जाय तो उसे तो ठगना नहीं देंगे ऐसा दुकानदारों को कभी ख्याल भी होता है ? इसके विपरीत हमारे दुकानदार तो समझते हैं कि कमाने का मौका यही है । और यह वृत्ति गाँव से आनेवाली सब्जी बेचनेवाली मालिन से लेकर व्यवसाय-विशारद बड़े से बड़े व्यापारी तक में होती है । गाँव का आदमी इतना कुशल नहीं होता

बाहर का आदमी कुशल हो जाता है। परन्तु असल भी दोनों का नहीं होता है।

पचीस साल पहले की बात है। नागपुर में एक दिन हम बुनकरों के करघे देखने गये। खादी-आंदोलन के प्रारंभिक दिन थे। बुनकरों को एक प्रकार की प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। यों वे बुनते तो थे मिल का ही सूत परन्तु उन्हें आशा होने लगी थी कि अब हमारी तरक्की के दिन आनेवाले हैं। सीपों की बनी किरमिची (पटल) दरियाँ वे बुनते थे। हम दरियाँ खरीदना चाहते थे। हमने उनका दाम पूछा। उन्होंने देखा कि ये बड़े भोले—देश-भक्त लोग हैं। उत्साह में आकर बुनाई का काम करना चाहते हैं। दरियों की कीमतों का इन्हें पता कहाँ से होगा? सीप की दरी देखने में सुन्दर होती है। इसलिए माकूल कीमत मांगें तो चल सकता है। उन्होंने एक दरी की कीमत ८ रुपये मांगी। परन्तु हममें से एक भाई इन बातों का कुछ जानकार था। उसने आठ आने बताये। मुझे कुछ ऐसा याद आ रहा है कि अन्त में हमने वह दरी कुछ आनों में ही खरीदी।

इसी प्रकार एक बार मैं पैदल यात्रा कर रहा था। तो एक दिन दूध लेने के लिए हलवाई की दुकान पर गया। मैंने यों ही पूछा—"दूध में पानी तो नहीं मिलाया है?" वह बोला "यह क्या कह रहे हैं आप! आज एकादशी है न!" मैंने कहा— अर्थात् दूसरे दिनों पानी डाला जाता है? उसने कहा 'आटे में जिस प्रकार थोड़ा नमक डाला जाता है इसी प्रकार व्यापार में कुछ असत्य जरूरी होता है। इसके बगैर व्यापार चल ही नहीं सकता' जो लोग अपने आपको धार्मिक कहते हैं वे भी कहते सुने गये हैं कि व्यापार को धर्म के साथ नहीं मिलाया जा सकता। धर्म के समय धर्म और व्यापार के समय व्यापार हो। यों वे दान धर्म करेंगे। कोई दुखी नजर आया तो दयाभाव भी दिखाएंगे। परन्तु व्यवहार में सत्य को स्वीकार करने के लिए वे कभी तैयार नहीं होंगे।

इस प्रकार अपने नित्य के व्यवहार में जिन्हें असत्य का उपयोग करने की आदत हो जाती है उन्हें कालेबाजार में कोई खास कालापन दिखाई

नहीं देता। जिस राष्ट्र के बाजार में असत्य चालू सिक्के के समान सर्वव्यापी बन गया है उसके पतन की भी कोई सीमा है? हम मानते हैं कि दो सौ वर्ष तक पराधीनता में रहने का यह परिणाम है। जब कि भारत का बेहद शोषण हुआ है। परन्तु कारण जो भी कुछ रहा हो इस नैतिक हानि को हम कैसे दरगुजर कर सकते हैं?

मतलब यह कि हमें पूरी तरह से समझ लेना चाहिए कि आज हम अत्यंत धर्महीन हो गये हैं। और जो भी उपाय-योजना करनी हो बहुत सोचसमझकर, दूर दृष्टि से करनी चाहिए। केवल आतंक उत्पन्न करनेवाले तात्कालिक उपायों से काम नहीं चलेगा। सारी समाज रचना को बदल कर साम्य पर अधिष्ठित नई अर्थ-व्यवस्था करनी होगी। इतने से भी काम नहीं चलेगा। अपनी धार्मिक कल्पनाओं का भी हमें संशोधन करना होगा। केवल भूतदया से सन्तोष नहीं मानेंगे। व्यवहार में सत्य को स्थापित करने की जरूरत है। आज केवल व्यापार व्यवसाय में ही नहीं बल्कि साहित्य देश-सेवा और धर्म के क्षेत्र में भी असत्य उजले मुंह से घूम रहा है। वहां से उसे निकाल बाहर किया जाना चाहिए। नहीं तो इन सारे क्षेत्रों में जब तक उसका निर्ममता के साथ संहार होता रहेगा केवल दण्ड के बल से अथवा भूतदया के नाम पर राष्ट्र पर छाया हुआ यह महान संकट टल नहीं सकेगा। समस्त विचारकों समाज-सेवकों धर्म-साधकों शिक्षण-शास्त्रियों, कार्यकर्ताओं और प्रबन्धकों को मिलकर यह काम करना चाहिए।

(मराठी हरिजन १५-१२-१९११)

प्रार्थना में विवेक २१

एक सज्जन लिखते हैं—

मैं और मेरे कुछ मित्र इधर कुछ वर्षों से हर सोमवार और गुरुवार की शाम को प्रार्थना करते हैं। प्रार्थना में—गीताई के स्थितप्रज्ञ के लक्षणोंवाले श्लोक पहले बोलते हैं और बाद में जो भी एकत्र होते हैं उनमें से हर आदमी एक एक अभंग बोलता है। और अंतमें 'अहिंसा-सत्य-अस्तेय' आदि एकादश

संतों का स्मरण करके आरती के साथ समाप्त करते हैं। यह है हमारी पद्धति। बीच बीच में कभी कभी कुछ साम्प्रदायिक लोग भी आ जाते हैं। उनसे भी अभंग कहलवाते हैं। परन्तु उनमें कभी कभी कोई 'व्यक्ति' के बीच पाने लग जाता है। तो कोई एकनाथ का अच्छा लगा देखता ऐसा कहाँ ठहरा' भगवान भी कैसा ठगोरा है तो कोई बैकुंठीची मूर्ति काली मीना तीरीं' बैकुण्ठ का भगवान भीमा तटपर आलया इस आशय का तुकाराम का अभंग गाता है। अब हमारी दृष्टि से व्यक्ति के भजन में शृंगार और कामुकता है इसलिए हम उसे नापसंद करते हैं। एकनाथ के भजन में भगवान को ठगोरा कहा है यह भी ठीक नहीं लगता। और तुकाराम के अभंग में भी भगवान को बड़ा चोर बताया गया है। हम कहते हैं कि ऐसे भजनों से प्रार्थना की गम्भीरता कम हो जाती है। इस पर साम्प्रदायिक लोग कहते हैं "क्या ये भजन और अभंग हमारे बनाये हैं? बड़े बड़े संतों की यह रचना है। शब्दों के प्रकट अर्थ की अपेक्षा इनमें कहीं गूढ़ अर्थ हो सकता है। केवल वाच्यार्थ नहीं है। हम कहते हैं इनमें यदि गहरा अर्थ हो भी तो सामान्य जनों की समझ में यह नहीं आता। इसलिए अपनी प्रार्थना में हम ऐसे अभंग नहीं कहें। इस प्रकार के विचार भेद हमारे अन्दर खड़े होगए हैं। इनका समाधान आप कर दें तो बड़ी कृपा होगी।

पद-चयन का प्रश्न सबके काम का है। इसलिए इस पर गहराई से विचार करना जरूरी है। यह प्रश्न और भी कई जगह इसी रूप में मेरे सामने आया था और अनेकबार मुझे इसकी चर्चा करनी पड़ी है।

सबसे पहले हम एक यह बात ध्यान रखें कि प्रार्थना में हम जो कुछ कहते हैं वह हमारी अपनी चित्त-शुद्धि के लिए होता है। संतों ने अलग अलग प्रसंग पर जो भजन वगैरा लिखे तब उनकी मनोभूमिका अलग अलग थी। उनमें से हम जिन भजनों को चुनते हैं वह हमारी उस समय की मनःस्थिति पर निर्भर रहता है। क्यों कि यह प्रार्थना हमारे दिल की है। हमें अपने शब्दों में ही भगवान से प्रार्थना करके क्षमा मांगनी है, बल प्राप्त करना है भक्ति और ज्ञान वगैरा की मांग करनी है। परन्तु अपनी

वाणी में इतना बल नहीं। इसलिए संतों की मदद लेते हैं। परन्तु हम जिस समय वे भजन गाते हैं उस उतनी देर के लिए तो वे हमारी वाणी ही बन जाते हैं। उस समय वे उस कवि या संत के वचन नहीं होते। इसलिए हमको ऐसे भजनों और पदों का ही चुनाव करना चाहिए जो हमारे मन के भावों को प्रकट करते हों। दूसरे पदों को हम त्याज्य नहीं कहते। उनमें गूढ़ अर्थ हो सकता है और शायद न भी हो। हमें इस वाद में पड़ने की जरूरत नहीं। हमारे मन के भावों को सरल भाषा में प्रकट करनेवाले दूसरे अनेक भजन यदि मिल सकते हैं तो हम गूढ़ (छिपे) अर्थवाले भजन लें ही क्यों?

पत्र प्रेषक के प्रश्न का उत्तर इतने में आ जाता है। परन्तु सत्य की खोज की दृष्टि से हमें इस प्रश्न पर अधिक गहराई से विचार करना होगा। एक तो यह कि संतों की छाप जितने भजनों और अभंगों पर लगी है हम यह नहीं मान लें कि वे सब उन्हीं के बनाये हुए हैं। संत तुकाराम जब जीवित थे तभी से अनेक लोग उनके नाम पर अभंगों की रचना करने लग गये थे। स्वयं तुकाराम ने उसका निषेध किया है। परन्तु इस निषेध की परवा नहीं करते हुए कितने ही संतों के नाम पर ऐसा बहुतसा कूड़ाकर्कट साहित्य में घुस बैठा है। इसलिए सुवर्ण मार्ग तो यही है कि जो बात हमारे दिल को सही लगे उसी को ग्रहण करें। जो सही नहीं लगे उसे नम्रतापूर्वक छोड़ दें। फिर वह चाहे किसी के नाम पर हो। परन्तु इन दिनों भक्तिमार्गी लोग इतने मूढ़ हो गये हैं कि संतों के नाम पर गाया गया कोई भी भजन—फिर वह कितना ही खराब हो— उनकी श्रद्धा का पात्र बन जाता है। उसके अर्थ पर विचार करने की भी उन्हें जरूरत महसूस नहीं होती। और उनकी भक्ति का प्रत्यक्ष आचरण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह भक्ति नहीं भक्ति की विडंबना है।

परन्तु यदि यह भी सिद्ध हो जाय कि अमुक भजन क्षेपक नहीं है स्वयं उन उन संतों के द्वारा लिखे गये हैं फिर भी सारे भजनों को प्रमाण-स्वरूप मान लेना जरूरी नहीं है। भारत में बीच का जो गुलामी का समय गुजरा है उसमें साहित्यिकों के दिमाग में इतना शृंगार और कामुकता भर गई थी कि जानकार आदमी को भारत के पतन का कारण

सम्मत ढूंढने के लिए जाने की जरूरत नहीं रह जाती। शृंगार को रसों का राजा बना दिया गया और उसका सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण करने ही में पण्डिताई की सफलता मानी जाती रही है। ऐसे विषयासक्त वातावरण में अवतरित संतों को भी यदि भक्तिरस को शृंगार की भाषा में पेश करने का मोह हुआ हो या यह लगा हो कि केवल इस प्रकार ही लोगों को भक्ति की तरफ मोड़ा जा सकता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं मानी जानी चाहिए। आज हम अहिंसावादी भी तो यही कर रहे हैं। हमारी बात लोगों की समझ में जल्दी आये इस हेतु से हिंसा के क्षेत्र के शब्दों का व्यवहार हम करते ही हैं। हम कहते हैं सत्याग्रह की "लड़ाई, 'आक्रमणकारी' अहिंसा 'अहिंसक सेना' अहिंसा का 'शस्त्र' अहिंसा का 'दबाव' (प्रेशर) अहिंसा की 'जबरदस्ती' (कोअर्शन) वगैरह। यही शायद संतों ने भी किया होगा। दोनों तरफ यही मोह काम कर रहा है। प्रचार जल्दी परन्तु विचार दूषित हो जाता है। इसलिए हम जो कुछ करें या कहें बारम्बार विवेक को सही सलामत जाग्रत रखते हुए करें और कहें— फिर वे सन्तों के भजन हों, धर्मग्रंथ हों या सत्याग्रही साहित्य हो।

काल-प्रवाह के साथ-साथ मनुष्य के मन का भी विकास होता रहता है। इसलिए पूर्वजों की कृति में से केवल सार वस्तु ग्रहण कर लेनी चाहिए। असार को छोड़ देना चाहिए। हममें— उनके वंशजों में—यह हिम्मत होनी चाहिए। इसी हिम्मत को मैं श्रद्धा कहता हूं। नचिकेता के बाप ने बूढ़ी और मरणोन्मुख गायें दान के लिए एकत्र की थीं। उपनिषद् में कहा है कि उन्हें देखकर नचिकेता के मन में श्रद्धा जागी—श्रद्धा आविष्ट और उसने अपने पिता से कहा—'यह क्या दान शुरू किया है आपने'। यही श्रद्धा हमारे अन्दर भी हो। इसके अभाव में हमारी आज की प्रार्थना और भजन वीर्यहीन और अकिंचित्कर बन गये हैं। यों हमारे यहां हर गांव में भजन हो रहे हैं। परन्तु उनमें से कहीं सामर्थ्य का निर्माण नहीं हो रहा है। इसका कारण यही कि उनमें सच्ची श्रद्धा नहीं है।

(मराठी हरिजन २२ १२ १९५१)

अचित्तं ब्रह्म*   २२

भी

आपकी छपी हुई-सी रिपोर्ट मिली। छपी हुई-सी अर्थात् छापे-जैसे सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई और लिखावट भी एकतरीकी मानो छापे में छपी हो। आप निरलस दौरे निकालते ही जा रहे हैं यह देखकर किसी भी स्वाप् को आपसे ईर्ष्या होगी। अपनी रिपोर्ट के गांवों के नाम आपको संध्या-गायत्री के समान कण्ठस्थ हो गये होंगे। जनता से काफी संपर्क हुआ दिखते हो। परन्तु मुख्य प्रश्न तो यह है कि जनता के हृदय में स्थान भी मिला या नहीं?

ऐसा प्रश्न पूछना तो सरल है लेकिन उसका जवाब 'हां' में देना कठिन है। तेलगू में एक कहावत है कि 'पूछने वाला बड़ा सिरमौर होता है। और जवाब देनेवाले की सदा आफत। क्यों कि प्रश्न पूछनेवाले का काम शब्दों से हो जाता है। जवाब देनेवाले को काम करना होता है।

अहिंसा का जयघोष करनेवाले यदि अपने मन का एक चौखटा बना लेंगे और उससे जरा भी भिन्न विचार प्रवाह में पड़े हुए सत्तम कार्यकर्ताओं को टालकर या उनकी उपेक्षा करने लगेंगे तो उनका काम नहीं चलेगा। ब्रह्म तं परादात् यो अन्यत्र आत्मन: ब्रह्म वेद। जो ब्रह्म को आपने से अलग मानेगा उसे ब्रह्म अपने से अलग कर देता है। इसलिए अहिंसक पुरुष सबको अपने हृदय में स्थान देने का शक्तिभर प्रयत्न करता है। हिंसक प्रतिपक्षी से लड़ते समय भी वह उन्हें अपने पेट में समा लेने का विचार रखता है। फिर दूसरों का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

मेरा जमशेदपुरवाला भाषण आपने 'खादी जगत्' में पढ़ा ही होगा। नौजवानों के बारे में मेरे दिल में जो श्रद्धा और विश्वास है वह मैंने उसमें प्रकट किया है। वेदों में एक वाक्य है– "अचित्तं ब्रह्म जुजुषुर् युवानः" अर्थात् नौजवानों को वह ब्रह्म अच्छा लगता है जिसका चिन्तन अभी किसीने

---

* एक मन

नहीं लिखा हो। जिसका चिन्तन दूसरों ने कर लिया है वह उन्हें पसन्द नहीं होता। उन्हें नवीन कल्पना चाहिए। उचित भी है। नये आदमी को पुरानी कल्पना से उन्हें कैसे सन्तोष होगा? परन्तु इस संसार में एकदम नया क्या है? सनातन सत्य पुराने ही होते हैं। परन्तु वे नया रूप नया वेष धारण करके आ सकते हैं और इस प्रकार वे नये बन जाते हैं। नवरूप धारिणी शक्ति ही सनातन सत्य की सनातनता है। इसीसे वे चिरस्थायी बनते हैं। केवल परिभाषा बदलने की शक्ति नहीं होने के कारण बड़े बड़े विचारक पीछे रह जाते हैं। तब मुझे उनके कठमुल्लापन पर दया आती है। सांप अपनी केंचुली छोड़कर फिर ताजा-नया-बन जाता है। यह केंचुली छोड़ने की शक्ति जिस विचारक में नहीं होती वह विचारक कैसा? वह कर्मयोगी भी कैसा? कर्मठ भले ही उसे कह दीजिए। कर्मठ खूब काम करता दिखता है, परन्तु वस्तुतः वह कर्मशून्य ही होता है। 'ठ' का मतलब शून्य है यह तो हमारी वर्णमाला ही कहती है।

ज्ञानेश्वरी के प्रारम्भ में ज्ञानदेव ने एक शिव-पार्वती-संवाद दिया है। पार्वती पूछती है— गीता का रूप कैसा है? शंकर कहते हैं—"हे नाना-रूपिणी देवि जिस प्रकार तेरा रूप नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता वही बात गीता की भी है। गीता-तत्त्व में नित्य-नूतनता दिखती है।" सनातन सिद्धांतों का स्वरूप ऐसा ही होना चाहिए। अहिंसा पर भी यही न्याय लागू होगा न!

आपकी रिपोर्ट के निमित्त से मैं यह लिख गया—यद्यपि इसका आपकी रिपोर्ट से बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं है। परन्तु इससे आपको ज्ञात होगा कि इस समय मेरे दिमाग में क्या विचार चल रहे थे।

विनोबा के प्रणाम।

(मराठी हरिजन ता. २९-१२-४९)

पिछले दस वर्षों से वर्धा में महारोगी-सेवा-मण्डल महारोगियों की सेवा का काम कर रहा है। श्री मनोहरजी दिवाण ने यह काम लगभग अकेले हाथों खड़ा किया है। और उन्होंने इस काम के लिए अपना संपूर्ण जीवन अर्पण करने का संकल्प किया है। इसीलिए तो वह चल रहा है। मिशनरी केंद्रों में रह कर इस काम का ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया है।

मनोहरजी बीस वर्ष से मेरे साथ हैं। आश्रम की रसोई, भंगी का काम कताई, बुनाई, धुनाई इत्यादि सारे काम उन्होंने बरसों तक किये हैं। इस तैयारी के बाद वर्धा तहसील के गावों में घूम घूम कर ग्रामीणों की अनेक प्रकार से और निष्काम बुद्धि से सेवा की है। इन ग्राम-यात्राओं में घूमते हुए ही महारोगियों कि दुर्दशा देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठा। और वहीं उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे उन्हीं की सेवा में अपना जीवन लगा देंगे। मैंने उनसे कहा कि यह सेवा अवश्य ही करने योग्य है। परन्तु ऐसा मान कर इस काम को उठाना होगा कि यह आपको एकाकी ही करना होगा। हमारे पास जो कार्यकर्ता हैं वे सेवा के दूसरे कामों में लगे हुए हैं। और हमारे समाज में आज आत्मज्ञान का व्यापक अभाव है। ऐसे समाज में से आज इस काम के लिए नये कार्यकर्ता मिलने की हमें आशा नहीं करनी चाहिए। फिर आपको वैद्यकीय ज्ञान भी नहीं है। और यदि इसीको अपना जीवन-कार्य बनाना है तो दूसरे कामों का मोह भी छोड़ना पड़ेगा। फिर इस कार्य में शरीर को भी तो खतरा है ही। इसलिए अपने दिल को पूरी तरह से टटोल कर फिर कुछ निश्चय कीजिए। परन्तु उन्होंने टटोलना छोड़ा नहीं था। यह वे पहले ही कर चुके थे।

मनोहरजी की माताजी बोलीं—"जरा हमें समझाइए। क्या संसार में यही एक सेवा का काम है? क्यों इसने यह हठ पकड़ी है?" मैंने कहा—"मान लीजिए कि मुझे या आपको यदि यही रोग हो जावे तो मनोहरजी को हमारी सेवा करनी चाहिए या नहीं?" तब वे बोलीं कि

एक हजार नौ सौ छियालीस वर्ष पहले एक महात्मा कह गया — 'शत्रु से प्रेम करो'। मनुष्य के हृदय में ये शब्द तीर की तरह प्रवेश कर गये परन्तु उसे वह हजम नहीं कर सका। इस महात्मा के नाम पर उसने एक मत ही शुरू कर दिया। जो दूसरे पर अपनी सत्ता जमाना नहीं चाहता और न दूसरे किसी की सत्ता को मानता उससे बड़ा सत्ताधारी और कौन हो सकता है? परन्तु यह मत उस महात्मा और मनुष्य की असफलता का एक मानदण्ड ही बन गया है।

ईसा से भी पहले यही बात बुद्ध ने भारत में कही थी। 'वैर से वैर का शमन नहीं होता अवैर से ही उसका शमन हो सकता है।' लोगों ने कहा है यह कोई नई बात नहीं है। वेदों ने भी कहा है कि 'तितिक्षन्ते अभिभस्तिर् जनानाम्' अर्थात् दुर्जनों के आक्रमणों का प्रतिकार सज्जन तितिक्षा से करते हैं। बुद्ध ने कहा 'अच्छा है। मेरी सिखावन यदि पुरानी ही है तो उसपर निष्ठापूर्वक अमल कीजिए। और यदि नई है तो उत्साह के साथ उसके पालन में लग जाइए।' ईसा ने तो साफ साफ कह दिया है— 'मैं पुरानी बातों को तोड़ने के लिए नहीं आया हूं। मैं तो केवल उनका जीर्णोद्धार करने के लिए आया हूं।' भलाई पुरानी चीज ही है। केवल उसके जीर्णोद्धार की जरूरत है।

'शत्रु से प्रेम करो' कैसी सुन्दर, कुशल युक्ति है? वह मुझसे द्वेष करता है और मैं उससे प्रेम करता हूं। मैंने उसके दिल में अपनी छावनी डाल दी है। अब वह मुझ पर आक्रमण कैसे करेगा? युद्ध उसकी हृदय-भूमि में शुरू हो गया। मैं तो अलग हो गया। शत्रु की भूमि पर लड़ाई चल रही है। और मैं सुरक्षित हूं। शत्रु का नाश ही होगा। ज्ञानदेव ने कहा— यदि मिठास से ही दुश्मन मर जाता है तो क्यों तेग-तलवारों का बोझ उठायें?

'शत्रु से प्रेम करो' इसमें कितना महान् धैर्य है? जिसके हृदय में बल नहीं उसमें इतनी हिम्मत कहां से आयेगी। पर हम सोचते हैं

कि जो तलवार चलायेगा वही बलवान होता है। परन्तु सच तो यह है कि तलवार की सहायता का त्याग करते ही क्या तुम दुर्बल नहीं हो गए? तुकाराम ने विनोद में कहा है 'अरे क्या करूँ मैं तेरी कदर से वैसा पर मेरे हाथ तो दाल तलवारों में बंध गए हैं। लड़ूँ तो कैसे लड़ूँ?

शस्त्र लेकर मनुष्य निःशस्त्रों पर ही अपनी ताकत आजमा सकता है। पर सवासेर मिलते ही हाथ में से शस्त्र छूट जाते हैं। तब इसमें क्या वीर्य है? हमने गत महायुद्ध में देख लिया न? जो लाखों लोग शस्त्र लेकर आक्रमण करने लगे थे अंत में उन्हीं को शस्त्र फेंक कर आत्म-समर्पण करना पड़ा। क्यों? सवित के कारण। सामनेवाले के पास युद्ध सामग्री अधिक थी। इसलिए हथियार डाल देने पड़े। प्रारम्भ में शूर वीरता दिखाई और बाद में कमजोरी। शत्रु से प्रेम करनेवाला ही अंत तक वीर्य को निबाह सकता है।

'शत्रु से प्रेम करो' यह विरोध के द्वारा विकास करने की सच्ची पद्धति है। वह मुझसे द्वेष करता है। और मैं प्रेमपूर्वक उसका प्रतिकार करता हूँ। इसमें से एकता का पूर्णभाव निर्माण होता है। यही वेदान्त है। कुरान में लिखा है 'तेरी जिससे अदावत अर्थात् दुश्मनी है उसपर यह मित्रता का प्रयोग करके देख। तू पाएगा कि वह तेरा दुश्मन नहीं आत्म-सखा बन गया है।

'शत्रु से प्रेम करो' क्या इसका अर्थ यह है कि पाप का प्रतिकार ही नहीं किया जाय? इस प्रश्न के पूछनेवाले ने निश्चित रूप से मान लिया है कि पाप केवल उसके शत्रु में ही है और इसके पास केवल पुण्य ही पुण्य है। परन्तु यह ठीक नहीं। पाप जहाँ कहीं भी हो वहाँ उसका प्रतिकार अवश्य करना है। परन्तु प्रारम्भ शुरू अपने से करें और समाप्ति शत्रु में। रोगी से प्रेम करने के मानी रोग से प्रेम करना नहीं है। रोग-निवारण का यत्न ही रोगी से प्रेम करने का चिह्न है।

यह बात विचार में तो सही जंचती है। और इसलिए ईसाइयों ने ईसा के नाम पर यह पथ जारी किया है। इसीलिए हिन्दुस्तान में वेदान्त की गर्जना होती है। इसी कारण मुसलमानों पर कुरान की छाया रहता है।

इसीलिए चीनी और जापानी अपने आपको बुद्ध का अनुयायी बताते हैं। परन्तु इस उपदेश पर अमल कोई नहीं करता। इसका कारण क्या है?

इसके कारण की पूरी जाँच होनी चाहिए। इतने सारे धर्मों के मानने वाले अहिंसा का उपदेश करनेवाले अपने अपने धर्म के बारे में पूज्य भाव रखते हैं और अपने आपको उसका अनुयायी बताते हैं। परन्तु व्यवहार में उसपर अमल नहीं करते। तब क्या ये सब ढोंगी और झूठे हैं? मानव समाज के विषय में ऐसी कल्पना करना उचित नहीं होगा। इसलिए इस चमत्कार की कारण-मीमांसा होनी चाहिए।

यों कारण बहुत होंगे। परन्तु इसका मुख्य कारण मुझे यह मालूम होता है कि लोगों के दिल में शायद यह भ्रम है कि यह उपदेश केवल व्यक्ति के लिए है समाज के लिए यह लागू नहीं होता। और। यदि केवल व्यक्ति के लिए हो तो भी क्या व्यक्ति उसपर अमल करते हैं? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि हां ऐसा कुछ प्रयत्न अवश्य होता रहता है। उसमें पूरी सफलता नहीं मिलती। इसका कारण है मनुष्य का अपूर्ण पन उसकी दुर्बलता। इस दुर्बलता का वह स्वीकार भी कर लेता। परन्तु सामाजिक जीवन में भी यह सिद्धान्त व्यवहार्य है इस बातको उसका दिल ही अभी स्वीकार नहीं करता। इसके विषय में वह अभी शंकाशील है।

"सिद्धान्त एक त्रिकोण पर अवश्य सिद्ध हो गया। परन्तु वह सारे त्रिकोणों पर कैसे लागू होगा" इस प्रकार की शंका भूमिति के विद्यार्थी के दिमाग में कभी नहीं उठती। परन्तु धर्मनिष्ठों के दिमाग में अहिंसा के बारे में जरूर ऐसी शंका खड़ी हो जाती है। जबतक यह शंका दूर नहीं हो जाती हम सत्पुरुषों का अनुवर्तन नहीं कर सकेंगे। आदर भले ही कर लेंगे। उनके यशोगान भी गायेंगे उनका पक्ष चलायेंगे उनके नाम का जयजयकार करेंगे और अपने आपको उनका अनुयायी भी कहते रहेंगे परन्तु उनके सच्चे अनुयायी नहीं बनेंगे। उनके नाम पर मारपीट फिर खूनीयुद्ध और युद्ध भी कर लेंगे। और इसमें हमें कोई विसंगति नहीं मालूम होगी।

(मराठी हरिजन ५-१-'४७)

स्त्री-पुरुष में भेद करने की वृत्ति ही मुझमें नहीं है। मैं मानता हूं कि स्त्रियों के सामाजिक और नैतिक और राजकीय अधिकार और कर्तव्य वे ही हैं जो पुरुषों के हैं। दोनों का धार्मिक अधिकार समान है और दोनों की नैतिक योग्यता भी एक है। दोनों का शिक्षण एकत्र होना चाहिए और विषय भी समान होने चाहिए। स्त्री-पुरुष का भेद बाह्य है, मूलभूत नहीं। इससे भिन्न भी एक विचारधारा है लेकिन मैं अपने विचार रख रहा हूं। स्त्री और पुरुष में समान मानव-आत्मा होती है, इसलिए बाह्य भेद दिखाई दें तो भी उनको महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं। बाह्य भेद के कारण दोनों के कार्य-क्षेत्रों में कुछ फर्क होना स्वाभाविक है, लेकिन इतने-से आधार पर उस भेद-भाव को ठीक नहीं कहा जा सकता जो आज हम दोनों में मौजूद है।

अनर्थकारी साम्य-दृष्टि

हिन्दुस्तान में बीच के जमाने में कुछ विचारक ऐसे निकले जिन्होंने स्त्री-पुरुष भेद को मूलभूत समझा। उनका आधार केवल उनकी कवित्व-दृष्टि है। सांख्यों ने सृष्टि का निरीक्षण करते हुए दो तत्त्व पाये। एक त्रिविध रूपधारी जड़ दूसरा एकरस चैतन्य। एक को उन्होंने नाम दिया प्रकृति' और दूसरे को 'पुरुष'। दोनों के संयोग से संसार चल रहा है। प्रकृति' शब्द स्त्रीलिंग है और 'पुरुष' पुल्लिंग। इसी शाब्दिक लिंग-भेद का उपयोग कर कवियों ने कहा कि स्त्री 'प्रकृति-तत्त्व' का प्रतिनिधित्व करती है और पुरुष 'पुरुष-तत्त्व' का। कुछ विचारकों ने इसे गंभीर स्वरूप दिया और माना कि स्त्री संसारासक्त होती है, वह मोक्ष की अधिकारिणी नहीं हो सकती। स्त्री को मोक्ष पाना है तो उसे दूसरे जन्म में पुरुष होना होगा। इन विचारकों के विचार की सिद्धि के लिए सिवा

*महिलाश्रम वर्धा के वार्षिकोत्सव के अवसर पर दीया हुआ भाषण ता. १२-१-४७

उनकी विकृत बुद्धि और काव्य-शक्ति के और कोई आधार नहीं था। लेकिन शास्त्रों ने तो प्रकृति को 'प्रधान' भी कहा है और यह शब्द पुंलिंग है।

वस्तुतः स्त्री-पुरुष में एक ही पुरुष-तत्त्व जो चेतन है समान भाव से मौजूद है और दोनों के शरीर उसी प्रकृति-तत्त्व के बने हैं। दोनों की संसारासक्ति और संसार-बन्धन समान है और मोक्ष का अधिकार भी दोनों का समान है। लेकिन काव्य-शक्ति कहाँ तक अनर्थ कर सकती है उसका ये प्रकृति पुरुष शब्द एक उदाहरण बन गये हैं।

संस्कृत-काव्यों में मैंने पढ़ा कि दमयन्ती के महल में वायु का भी प्रवेश नहीं था। क्यों? इसलिए कि वायु पुंलिंग है और परपुरुष को दमयन्ती के महल में कैसे स्थान हो सकता है? जब मैंने यह पढ़ा तो यह सोचकर व्याकुल-सा हो गया कि दमयंती का क्या हाल हुआ होगा। लेकिन फिर थोड़ी देर में निश्चिन्त हो गया। क्योंकि ध्यान में आया कि वहाँ 'वायु' नहीं तो 'हवा' तो जरूर जाती होगी क्योंकि हवा स्त्रीलिंग है। ऐसी है शब्दों की महिमा!

गुणों में अभेद

स्त्री संसारासक्त और पुरुष मोक्ष प्रवण और विरक्त माननेवाली विचारधारा से भिन्न एक दूसरी विचारधारा भी है जो कहती है, स्त्री पुरुष से श्रेष्ठ है। उसमें दया भाव सहज ही अधिक होता है। बालकों की शिक्षा और समाज-शासन स्त्री के हाथ में दिया जाय तो अहिंसक समाज रचना सुलभता से सिद्ध होगी। इन सब कार्यों में स्त्रियाँ आगे आयें ऐसा मैं भी चाहता हूँ। अभी तक ये कार्य सामान्यतः पुरुष ही करते आये हैं इसलिए स्त्रियों के प्रवेश से उनमें एक तरह की ताजगी आयेगी ऐसा मैं भी मानता हूँ। लेकिन जैसा कि नये विचारक मानते हैं वैसा मैं नहीं मान सकता। क्योंकि दया आदि गुण न किसी जाति के आधीन हैं न किसी लिंग के। बाह्य उपाधि के कारण गुणों के प्रकाशन में, उनके प्रकट होने की पद्धति में फर्क हो सकता है। लेकिन दोनों के गुणों में फर्क है ऐसा मानना विचार और अनुभव के भी विरुद्ध है।

संग्रह शक्ति में अन्तर

लेकिन भेद माननेवाले गुणों में तो भेद मानते ही हैं, दोनों की ग्रहण-शक्ति में भी फर्क मानते हैं। कहते हैं स्त्रियों के लिए कर्तव्य अनुकूल है गणित प्रतिकूल। पुरुष में तर्कप्रवीणता अधिक होती है उसकी बुद्धि की ग्रहण-शक्ति और स्वभाव के अनुकूल उसके अध्ययन के विषय होने चाहिए। इसी प्रकार स्त्रियों में सौन्दर्य भावना करुणा आदि मृदु शक्तियाँ अधिक होती हैं। वैसी ही उनकी ग्रहण-शक्ति और वैसे ही उनके अध्ययन के विषय होने चाहिए। किन्तु मैं मानता हूँ कि मूल-स्वभाव और उपाधिजन्य भेद का सम्यक् विश्लेषण न होने के कारण पैदा हुए ये भ्रम हैं।

प्रतिष्ठा में अभेद

नयी तालीम में लड़के भी रसोई करना सीखते हैं। इस पर एक भाई ने आपत्ति उठाई। उनको दुःख हुआ कि लड़कों के शिक्षण का समय बिगाड़कर क्यों हम उन्हें चूल्हे में झोंकते हैं? उनकी राय में चूल्हे में लड़कियों को झोंकना चाहिए। क्योंकि चूल्हे में लकड़ी जल सकती है और लकड़ी तथा लड़की दोनों स्त्रीलिंग हैं। मैंने उन्हें समझाया कि चूल्हे में तो ईंधन भी जल सकता है और वह तो लड़कों के समान पुल्लिंग है। लड़कों के हाथ की रसोई बनाने में अग्नि को इनकार नहीं है। ज्वार की रोटी लिंग-भेद नहीं जानती। स्त्री-पुरुष दोनों की भूख का समान भाव से शमन करती है। भूख भी लिंग-भेद नहीं जानती। और भूख नहीं तो प्रतिष्ठा का ही सवाल लोग खड़ा करते हैं। हमें समझना चाहिए कि प्रतिष्ठा न स्त्री की है न पुरुष की। प्रतिष्ठा तो उसकी है जो प्रतिष्ठा के काबिल है। प्रतिष्ठा का किसी कर्म-विशेषसे भी संबंध नहीं।

साथ रहने के गुण-दोष

लड़कियाँ और लड़कों के साथ रहने पर भी कइयों का आक्षेप है। वे कहते हैं यह प्रयोग खतरनाक साबित होगा। लेकिन साबित वह होगा, जो हम साबित करेंगे। वह हमारी शक्ति पर निर्भर है। वैसे किन्हीं भी दो व्यक्तियों के एकत्र रहने में जैसे कुछ गुण होता है खतरा भी

रहता ही है। कुछ लोग मुझसे पूछते हैं: क्या आप ब्राह्मण-बालक और हरिजन-बालक को एक ही छात्रालय में रखेंगे? क्या संगति के कारण कुछ बिगाड़ नहीं होगा? मैं कहता हूं, वह डर तो मुझे भी है। ब्राह्मण और हरिजन-बालक को साथ रखने में यह डर जरूर है कि जो दंभ अभी तक ब्राह्मणों तक सीमित था, वह हरिजनों में भी फैल जायगा। लेकिन जहां हम शिक्षण देने के लिए बैठे हैं, वहां ऐसे खतरों को उठाना ही होगा। जहां खतरा नहीं, वहां प्रयोग नहीं; जहां प्रयोग नहीं, वहां शिक्षण नहीं। मुझे ही हिम्मत न हुई, तो मैं अपनी हार मानूंगा, लेकिन सिद्धान्त को कायम रखूंगा।

गुरु-मंत्र

एक लड़की ने कहा: भगवद्गीता में तो स्त्रियों के लिए कोई शिक्षा ही नहीं दीखती। वहां स्थितप्रज्ञ है, गुणातीत है, योगी है। लेकिन स्थितप्रज्ञा, गुणातीता, योगिनी का लक्षण बताया ही नहीं है। वह शायद चाहती थी He और She वाली कानून की भाषा! मैंने उससे कहा, "उसकी फिक्र मत करो। गीता खुद तो स्त्री है और उसके पदर में ये स्थितप्रज्ञ आदि पड़े हैं। हमें तो गुरुमंत्र मिला है 'तत्त्वमसि'। गोरा, काला, हरिजन-परिजन, हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, ये सब भ्रम हैं। तू स्वयं नित्य विशुद्ध केवल आत्मा है। तू नाम नहीं, चित् है। तेरे-मेरे वगैरह तो सब है मुर्दा है। जिन्दा तो एक आत्मतत्त्व ही है। उसे पहचान और इसे भूल जा। भेदों में अभेद पहचानना ही आत्मबुद्धि का लक्षण है। भेदों को बढ़ाना ही हीन-बुद्धि का लक्षण है, पुरुषार्थ-हीनता है।"

'महिला-आश्रम' वर्धा, नवम्बर, '४६

वारकरीपंथ के एक कीर्तनकार लिखते हैं—

"पंढरपुर के पांडुरंग का मंदिर हरिजनों के लिए खुला हो यह आकांक्षा और आतुरता सत्यभूमिका को शोभा देने लायक ही है। 'यहाँ' सब का अधिकार है समझौती आदि देवें अधिकार। इस अभंग-वाणी के द्वारा तुकाराम महाराज आदि संतों ने इसका समर्थन किया है। और अस्पृश्य किसे कहें यह ज्ञानदेव महाराजने कह दिया है। 'काम एष क्रोध एष' इस पर टीका करते हुए उन्होंने बताया है कि कामक्रोधादि विकार और इनके साथी ही वास्तव में अस्पृश्य हैं। परन्तु केवल हरिजनों के लिए मंदिरों के दरवाजे खोल देने भर से देवस्थानों के सुधार और धर्म-शुद्धि का कार्य पूरा नहीं हो जाता। देवस्थान अध्यात्म-विद्या के पीठ होने चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि इनका प्रबन्ध योग्य आदमियों के हाथों में हो। देवस्थानों में काफी पैसा होता है। उसका सदुपयोग होना चाहिए।'

लेखक के लेख का यह सौम्य भाषा में सार है। आज हमारे मंदिरों में अनेक स्थानों पर नाना प्रकार के अनाचार चल रहे हैं। अज्ञानी जनता की उदार श्रद्धा और ईश्वर की सहनशीलता इसके बल पर गुजर करती रही है। परन्तु ईश्वर की सहनशीलता निस्सीम नहीं होती। कर्म और उसके फल का चक्र चलाकर वह निश्चिन्त होकर बैठा है। और यदि मंदिरों का जल्दी सुधार नहीं हुआ तो उसकी सहनशीलता यह योजना बना रही है कि मंदिर ही नहीं रहें। ईसा मंदिर में गया और उसने देखा कि वहाँ तो बाजार बन रहा है। इसी प्रकार आज यदि ज्ञानदेव अथवा तुकाराम हमारे मंदिरों में जाकर देखें तो उन्हें भी वहाँ यही दिखाई देगा। और फिर ईसा की भांति वे भी इन सारे बाजारों को उठा देने के काम में लग जायेंगे। परन्तु यह काम ऐसे रागद्वेष रहित संतों का है। साधारण लोग तो इतना ही करें कि वहाँ जानेवाले सब भक्त समता पूर्वक दर्शन पा सकें। और इनका प्रबन्ध जनता के द्वारा चुने हुए लोगों के हाथों में रहे। इतना करके वे आने के काम के लिए संतपुरुषों के आगमन की सक्रिय प्रतीक्षा करें।

(मराठी हरिजन १२ १ ४७)

मुझसे यहां बहुत से प्रश्न पूछे गये । उन सबके जवाब अलग अलग देना जरूरी नहीं है । क्योंकि बहुत से प्रश्न ऐसे होते हैं कि उनके केवल पूछलेने मात्र से प्रश्नकर्ता का समाधान हो जाता है । फिर इन प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए मैं आपके सामने दो शब्द कहना चाहता हूं ।

अभी यहां पर एक बहन ने कहा कि हमारे देश की बहनों की वर्तमान अवस्था के लिए अधिकांश में पुरुष ही जिम्मेदार हैं । मैं इस आरोप को दुःखपूर्वक स्वीकार करता हूं । मुझे इसका भान भी है । इस बात को ध्यान में रखकर ही मैंने अपने जीवन को बनाया है और अपनी मां को याद करके इस विषय में अपनी जिम्मेदारी पूरी करने का निरंतर प्रयत्न करता रहा हूं ।

कल मैंने एक मूलभूत विचार आपके सामने रखा था । स्त्रियों और पुरुषों में जो भेद है उसे कुदरत ने बनाया है । उसे दूर करने की न किसी को इच्छा है और न शक्ति भी । परन्तु इस भेद ने जो लौकिक स्वरूप ग्रहण कर लिया है वह ऐसा नहीं है । यह स्वरूप प्रकृति की योजना है । इसको तो मैं पवित्र मानता हूं । प्रजोत्पत्ति का वह केवल एक साधन है । परन्तु मनुष्यप्राणी ने इस भान का अत्यंत दुरुपयोग किया है । सच पूछिए तो यह एक शास्त्रीय विषय है । फिर भी उसे आज एक लज्जाजनक रूप प्राप्त हो गया है । सो भी इतना कि उसके बारे में खुले दिल से बोलना भी असंभव हो गया है । परन्तु जैसे ही उसमें शास्त्रीयता आने लगेगी त्यों ही इस विषय की सारी गलतफहमियां अपने आप दूर हो जायेंगी । फिर उस विषय का आज के समान दुरुपयोग नहीं होगा । इसलिए मेरा मत यह है कि इस बाहरी ऊपरी भेद को भुलाकर मानवी दृष्टि से आत्मिक आधार की नींव पर ही हमें अपने जीवन की रचना करनी चाहिये ।

---

* वर्धा के महिला-संस्था-संमेलन का उपसंहार भाषण ता ११ १ ४५

लोग पूछते हैं– तब क्या आप स्त्री-पुरुषों की शिक्षा में कुछ भी भेद करना नहीं चाहते ? इस पर मेरा जवाब यह है कि यदि भेद ही करना हो तो हर आदमी की शिक्षा में भेद हो सकता है । पुरुषों की योग्यताओं में भी फर्क होता है । और इस बात को ध्यान में रखकर उन्हें अलग अलग प्रकार से शिक्षा दी जाती है । तथापि सर्वसामान्य शिक्षा के गौरव में इससे कोई फर्क नहीं पड़ जाता । यही बात स्त्रियों के बारे में भी समझी जानी चाहिये । एक बहन ने पूछा था कि क्या बाल-संगोपन केवल स्त्रियों की शिक्षा का विषय नहीं है ? मैं कहूंगा हाँ अवश्य । परन्तु इसका अर्थ यदि आप यह करें कि पुरुषों की शिक्षा में इसकी जरा भी जरूरत नहीं है तो यह मुझे स्वीकार नहीं है । बच्चे तो माता-पिता दोनों के होते हैं । इसलिये बच्चों के लालन-पालन का ज्ञान दोनों के लिए आवश्यक है । हाँ इतना जरूर माना जा सकता है कि स्त्रियों को इस ज्ञान की आवश्यकता अधिक है ।

पैसा नहीं पचाना चाहिए २८

कहा जाता है कि भारत कृषि-प्रधान देश है । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भारत में जमीन बहुत है । हाँ इसका अर्थ यह हो सकता है कि भारत के वायु की और लोगों के मनों की रचना खेती के लिए अधिक अनुकूल है । एक अर्थ यह भी हो सकता है कि आज भारत के पास सिवा खेती के और कोई धन्धा ही नहीं रह गया है । परन्तु इस कृषि-प्रधान देश में खेती की जमीन फी आदमी केवल पौन एकड़ ही है ।

जिसके पास जमीन की कमी है उसे एक और अर्थ में भी खेती-प्रधान कहा जा सकता है । वह यह कि उसे खेती की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए । अर्थात् खेती शास्त्रीय पद्धति से व्यवस्थित की जाय । उसमें वह अपनी सारी बुद्धि लगा दे । नहीं तो जीना भी कठिन हो जायगा । इस अर्थ में भी आज भारत खेती-प्रधान हो गया है ।

और यों हर देश को सदा खेती प्रधान ही होना चाहिए। अर्थात् दूसरे धंधों की अपेक्षा खेती की तरफ उसे मुख्यतः ध्यान देना चाहिए। क्योंकि खेती से मनुष्यों को अन्न मिलता है। और यही मनुष्य की मुख्य आवश्यकता है।

प्रसिद्ध है कि उपनिषद जीवन का बड़ी गहराई से देखते हैं। उनकी तो आज्ञा है कि अन्न खूब पैदा करना चाहिए। मनुष्य का यही व्रत हो। अन्नं बहु कुर्वीत तत् व्रतम्। युद्ध के दिनों में सरकार ने यही भाषा शुरू कर दी थी। परन्तु अन्न तो वे बहुत पैदा नहीं कर सके। इसलिए पैसा ही बहुत खीचा। इस कारण तीस लाख मनुष्य अन्न के अभाव में मर गए।

अंत में अंगरेजों ने यह दिवालिया दुकान हमारे हवाले कर दी। आज सारे प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारें काम कर रही हैं। ये सारी दुकानें दिवालिया हैं यह जानकर ही हमनें उन्हें अपने हाथों में लिया है। इस-लिए और कुछ भी करें इससे पहले हमारी सबसे बड़ी जिम्मेवारी यह है कि लोगों को भूखों मरने से बचायें।

हिसाब किताब के जानकर लोग कहते हैं कि आज भारत में खेती लाभ की वस्तु नहीं रह गई है। जहा खेती लाभदायक नहीं है वहां जीवन की रक्षा कैसे होगी? इस स्थिति का कारण प्रकृति नहीं हमारा कृत्रिम जीवन है। और इस कृत्रिम जीवन का चिन्ह है पैसा। पैसे की अत्याधिक प्रतिष्ठा जीवन के लिए घातक बन गई है।

भारत की जनता गांवों में रहती है। गांवों से पैसे की प्रतिष्ठा यदि हट जाय तो हमारी खेती में भी जरूर सुधार हो सकता है। पैसे के लिए तम्बाकू और जरूरत से अधिक कपास की भी खेती क्यो हो? पैसे की इतनी अधिक जरूरत हमें क्यों हो? इसलिए कि जरूरत की शेष सारी चीजें हमें कीमत देकर खरीदनी पड़ती हैं। कपड़ा खरीदना पड़ता है और बाकी भी खरीदनी पड़ती है इसलिए पैसा चाहिए। और इसीलिए गलत चीजों की खेती होती है। फल होता है अनाज की कमी। गांवो में उद्योग धंधे नहीं हैं। इसलिए वहां पर्याप्त अनाज पैदा नहीं हो पाता।

निःसन्देह खेती में बहुत सुधार की जरूरत है। वह यदि सुधर जाय तो अवश्य ही उत्पादन भी बढ़ेगा। परन्तु यह काम आसान नहीं। खूब परिश्रम करना होगा। वर्षों लग सकते हैं फिर भी शायद काम नहीं चले। क्योंकि तबतक हमारी जन-संख्या भी बढ़ जायगी। इसलिए अब किसान को केवल काश्तकार नहीं बने रहना है। उसे खेती के अलावा खेती से उत्पन्न कच्चे माल से अपनी जरूरत की अन्य चीजें भी बना लेनी होंगी। खादी और ग्रामोद्योग के आंदोलन का भी यही उद्देश है। खादी और ग्रामोद्योग के बगैर आज की दुरवस्था को हम दूर नहीं कर सकेंगे।

आज सरकार इस चिन्ता में है कि भारत में अनाज कितना कम पड़ता है और उसकी पूर्ति कैसे की जाय? परन्तु इस प्रकार केवल गणित के हिसाब लगाने से काम नहीं चलेगा। अनाज तो अपरिमित होना चाहिए। चालू वर्ष की जरूरत को पूरा करके अगले वर्ष के लिए भी कुछ बच जाय इतना अनाज हर साल पैदा होना चाहिए। हवा भरपूर और पानी भरपूर वैसे ही अनाज भी भरपूर होना चाहिए। परन्तु यह तो खेती के सुधार से ही संभव है। अनाज के अलावा अन्य खाद्य पदार्थ भी काफी पैदा होने चाहिए। इसके लिए जमीन की अपेक्षा पानी की जरूरत अधिक होती है। जमीन के अन्दर पानी विपुल है। परन्तु उसे ऊपर लाने की जरूरत है। उसकी मदद से सब्जियां फल वगैरह पैदा किये जा सकते हैं। परन्तु इसमें भी पैसे को बीच में नहीं आने देना चाहिए। नहीं तो लोग यही चिन्ता करने लग जायेंगे कि इन्हें बेचेंगे कहां? ये चीजें ग्रामीणों को स्वयं खानी चाहिए। जो बचें केवल उन्हीं को बेचें। मुख्य ग्राहक हम ही हैं। यह है स्वराज्य की दृष्टि। संत तुकाराम ने कहा है कि जो अपने परिश्रम का फल खुद खाता है वह वंदनीय है। अपने बच्चे को ही हम बाजार में बेचने के लिए खड़ा कर दें तो उसका क्या मूल्य आएगा? और भला इस प्रकार कोई काम भी हो सकता है? गांवों में दूध और घी होता है। परन्तु गांव के लोग उसे खाते नहीं। खा नहीं सकते। फल सब्जियां वगैरह भी यदि वहां पैदा होने लगें तो इनको भी वे खा नहीं पाएंगे। खाना उन्हें पुसाएगा ही नहीं। क्यों? इसलिए कि वहां ग्रामोद्योग नहीं है। मेरी बुद्धि पर एक ही विचार सवार है इसलिए शायद मुझे

दूसरा उत्तर ही नहीं सूझ रहा हो । परन्तु जबतक दूसरा उत्तर नहीं सूझता इसी को पकड़ रखना होगा ।

(मराठी हरिजन १९ १ ४७)

ज्ञानदेव का गीतार्थ २९

'सत्यकथा' के जनवरी अंक में श्री फाटक का गीतार्थ पर सुन्दर लेख पढ़ा। उस में यद् यद् विभूतिमत् सत्वं के ज्ञानदेव के भाष्य पर कुछ गैरसमझ हो गई है । इस संबंध में अनेक लोगों की गैरसमझ हुई है। इसलिए उसका कुछ स्पष्टीकरण कर रहा हूं । गीता का मूल श्लोक इस प्रकार है–

> यद् यद् विभूतिमत् सत्वं
> श्रीमद् ऊर्जितमेव वा
> तत् तदेव अवगच्छ त्वं
> मम तेजोंश-संभवम् ।। १ ४१ ।।

लोकमान्य तिलक ने इसका अर्थ यों किया है–

जो जो वस्तु वैभव लक्ष्मी अथवा प्रभाव से युक्त है वह मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हुई है ऐसा जानो ।

अन्य टीकाकार भी इसी प्रकार अर्थ करते हैं । परन्तु श्लोक की सूक्ष्मता इस अर्थ में नहीं आ पाई है । दसवें अध्याय में विभूतियों का वर्णन है । इस वर्णन के उपसंहार के रूप में यह श्लोक है । इसलिए इसमें विभूतिमत् की तुलना में श्रीमद्, और ऊर्जित को रखने का प्रश्न है ही नहीं । जो जो विभूतिमत् है वह मेरे अंशरूप है यह मुख्य वाक्य है । और विभूतिमत् के दो प्रकार–श्रीमद् और ऊर्जित–उसके अन्दर–पेट मे–बताये गये हैं ।–जिस प्रकार हम किसी बात को समझाने के लिए कोष्टक में लिख देते हैं ।

विभूति के दो प्रकार—

(१) श्रीमद् अर्थात् वैभवयुक्त साधन-सामग्री-संपन्न नैतिक सद्गुणों से मंडित। संस्कृत के 'श्री' शब्द का अर्थ इतना व्यापक है।

(२) ऊर्जित अर्थात् (बाह्य वैभव न होते हुवे भी) अंतःप्रदेश में आत्मज्ञान से संपन्न। जिसका योग अधूरा रह गया है उसको आगे कहां जन्म मिलता है यह बताते हुए गीता के छठे अध्याय में भगवान ने यही दो प्रकार बताये हैं। शुचि श्रीमान् विरुद्ध 'श्रीमान् योगी' ऐसी नहीं आया है। वहां विशिष्ट अर्थ है यहां व्यापक वृत्ति है। विभूति के इन दो प्रकारों के ऐतिहासिक उदाहरण लेने हों तो अशोक और शंकराचार्य के नाम लिये जा सकते हैं। और प्रकृति से लें तो तारा-मंडल के साथ आकाश में शानसे विराजमान चंद्र और एकाकी प्रकाश देनेवाले सूर्य को ले सकते हैं। ज्ञानदेव ने पहली विभूति को इस प्रकार चित्रित किया है—

"जेथ जेथ संपत्ति आणि दया
दोन्ही वसती आलिया ठाया
ते ते जाण धनंजया,
अंश माझे।

(अर्थात् हे धनंजय जहां-जहां संपत्ति और दया एक साथ निवास करती हैं, जान लो कि वहां मेरा अंश है।)

मूल श्लोक में आये 'श्री' शब्द का स्वारस्य प्रकट करने के लिए संपत्ति और दया इन दो शब्दों की योजना है। दया शब्द अपनी तरफ से नहीं जोड़ा गया है। न वह 'ऊर्जित' शब्द का ही अर्थ है। छठे अध्याय के अनुसार यहां 'श्री' शब्द को समझाया गया है। तब 'ऊर्जित' शब्द को ज्ञानदेव महाराज ने किस प्रकार समझाया है?

ज्ञानदेव ने 'ऊर्जित' पद का काफी विस्तृत विवरण किया है। परन्तु छापनेवालों ने वह सारा विवरण भूल से अगले श्लोक के नीचे छाप दिया है जिसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण भूल है यह।

परन्तु आश्चर्य है कि वह किसीको अखरती नहीं। वह विवरण इस प्रकार है—

> अथवा एकलें एक चि गगनीं । परी प्रभा फांके त्रिभुवनीं
> तेवीं सर्व एकाची सकळ जनीं । आज्ञा पाळिजे ॥
>
> तयातें एकलें झणी म्हण । तो निर्धन या भाषा नेण
> काय कामधेनूसवें सर्व साहान । चालत असे ॥
>
> तियेतें जें जेधवां जें मागे । तें तें एकसरें चि प्रसवों लागे
> तेवीं विश्व-विभव तया आंगीं । होऊनि असती ॥
>
> तयातें ओळखावया हें चि खूणा । जें जगें नमस्कारिजे आज्ञा
> ऐसे आहाति ते जाण प्राज्ञा । अवतार माझे ॥

(हे प्राज्ञ अर्जुन, सुनो मैं तुम्हें अपने अवतारों की पहचान बताऊं। सूर्य गगन-मंडल में अकेला है। परन्तु उसका प्रकाश तीनों लोकों को आलो-कित करता है। समस्त लोक इसी प्रकार मुझ अकेले की आज्ञा का पालन करते हैं। उसे अकेला कहना भूल है। उसे क्या कोई साधनहीन निर्धन कह सकता है? क्या कामधेनु अपने साथ साधन सामग्री के गाड़े लादकर चलती है? उससे जब कभी जहां कहीं कोई चीज मांगता है वह अपने प्रताप से वही तत्काल दे देती है। इस प्रकार जिसके अंदर सारे विश्व का वैभव निवास करता है उसे मेरा अवतार जानो। उसकी सीधी सादी और थोड़े में यही पहचान है कि सारा संसार उसकी आज्ञा झेलने के लिए हाथ बांधे सदा खड़ा प्रतीक्षा करता रहता है।)

दोनों विभूतियों में तर तम-भाव यानी विवेक करना पड़े तो कहना होगा कि 'श्रीमत्' की अपेक्षा 'ऊर्जित' विभूति श्रेष्ठ मानी जायगी। यह सूचित करने के लिए पहली विभूति के बारे में 'धनंजय उन्हें अंश जानो' शब्द और दूसरी के बारे में 'प्राज्ञ अर्जुन उन्हें मेरे अवतार जानो' इस भाषा का प्रयोग ज्ञानदेव ने किया है। अंश और अवतार यों तो एक ही है। परन्तु अवतार शब्द में स्पष्ट ही अधिक तीव्रता का बोध होता है। इसी प्रकार अर्जुन को एक स्थान पर केवल

भर्गयस और दूसरे स्थान पर 'प्राज्ञ' कह कर अपनी ध्वनि को भगवान ने और भी स्पष्ट कर दिया है।

परन्तु इस प्रकार विभूतियों में तर तम के भेद का सूचन करना इस अध्याय का हेतु नहीं है। इसके विपरीत यह तो यह बताना चाहता है कि यह संपूर्ण विश्व परमात्ममय है। और इसके साधन के रूप में विभूति-चिंतन करना होता है।

इसी बात को ज्ञानदेव ने 'अथवा बहुनैतेन' श्लोक के भाष्य में और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'विभूतियों में सामान्य और विशेष का फर्क करना बड़ा दोष है।'

इस विवरण से स्पष्ट होगा कि उपर्युक्त श्लोक का बहुत से टीकाकारों ने जैसा स्थूल अर्थ किया है वैसा ज्ञानदेव महाराज ने नहीं किया है। उनका अर्थ सही-सही और अत्यंत विशद है।

सत्ता और सेवा ३०

संस्कृत में 'सत्ता' के अर्थवाला अच्छा-सा शब्द ही नहीं है। हिन्दी या मराठी में 'सत्ता' शब्द का जो अर्थ है वह संस्कृत में नहीं है। दूसरे कृत्रिम शब्द हैं। परन्तु सिद्ध शब्द नहीं है। यों हिन्दी मराठी का सत्ता शब्द भी है तो संस्कृत ही परन्तु संस्कृत में उसका अर्थ केवल 'अस्तित्व' इतना ही है। अस्तित्व तो जिसका उसीके स्थान पर होता है। मेरा अस्तित्व मुझमें और संसार का अस्तित्व संसार में। एक की दूसरे पर सत्ता हो यह एक नया योग है।

यह सत्ता आई कहाँसे? उसका अधिष्ठान क्या है? मां की सत्ता बच्चे पर होती है क्योंकि बच्चा असमर्थ होता है। अनन्यगतिक होता है। परन्तु दूसरी ओर बच्चे की सत्ता भी मा पर होती है। क्योंकि ऐसी सत्ता स्वीकार करना मा को अच्छा लगता है। मां असमर्थ नहीं है।

मां की सत्ता बच्चे पर होती है वह लड़के को अच्छी लगती है परन्तु बलवान अपनी सत्ता दुर्बल पर चलाता है वह दुर्बल को अच्छी लगती हो सो नहीं। वह लाचारी की बात होती है। लाचारी की सत्ता और अच्छी लगनेवाली सत्ता अलग चीजें हैं। इनको प्रकट करनेवाले अलग अलग शब्दों की जरूरत है।

ऐसे शब्द आज हमारे पास नहीं हैं। इसलिए एक को हम बल की सत्ता कहें और दूसरी को सेवा की सत्ता कहें। सेवा की सत्ता घर घर चलती है। परन्तु समाज में तो आज तक बल की सत्ता ही चली है। लोगों ने उसे देवत्व प्रदान कर दिया और वे शक्ति के नाम से उसकी पूजा भी करने लग गये। थोड़ी-बहुत सेवा भी वह करती है। परन्तु विचरण करती है शक्ति के रूप में।

परन्तु अभीतक कोई सेवा की देवी का निर्माण नहीं कर सका। घर के बाहर, समाज में सेवा हुई ही नहीं ऐसी बात नहीं। परन्तु देवता के रूप में अभी किसीने उसकी स्थापना नहीं की। कारण प्रकट ही है। सेवा यदि स्वयं देवी बन जायेगी तो उसकी सेवा कौन करेगा?

सही बात तो यह है कि विद्या लक्ष्मी और शक्ति देवी बन बैठी हैं। ये तो सेविका बनने योग्य हैं। और सच्ची देवी तो सेवा ही है। विद्या शक्ति और लक्ष्मी तीनों का सेवा की सेवा में अपने आपको अर्पण कर देना चाहिए। सेवा की दासी बनकर रहने ही में उनका देवत्व है। वह दासीत्व उन्होंने छोड़ दिया इस कारण वे देवी न रहकर राक्षसिनियां बन गई। आज उनका यही रूप है।

आज लक्ष्मी कमल पर बैठी है सरस्वती वीणा बजाती है या मोर से खेलती रहती है। और शक्ति शस्त्र धारण कर के दुर्बलों के बलिदान लेती है। ऐसी देवियों की आज संसार में पूजा हो रही है और समर्थ रामदास की भाषा में कहें तो असली देवी को चोर ले उड़े हैं।

विद्या शक्ति लक्ष्मी काफी नहीं थीं। इसलिए अब व्यवस्था-देवी और संगठन-देवी इस प्रकार दो नयी देवियां यहीं से ढूंढकर लाए हैं।

आश्रमों से लेकर सेनाओं तक सर्वत्र अनुशासन का बोलबाला ही रहा है। शिक्षा और भक्ति में भी अनुशासन चाहिए।

मतलब यह कि सत्य वही नहीं है इसलिए मायावी देवियों का जोर बढ़ गया है। पूर्ण जब नहीं होगा तब आश्रम में गलतों को मानना ही चाहिए।

और अब तो वे देवियाँ निरालम्बी बन गई हैं। "अपने लिए ही भाई" हम कहते हैं निरालम्बन। कंजूस कहता है 'पैसे के लिए पैसा'। खर्च के लिए नहीं। और सत्ता के लिए तो स्वाति नहीं। साहित्यिक कहता है 'साहित्य के लिए साहित्य' जीवन के लिए नहीं। कलाकार कहता है "कला के लिए कला"। वह नहीं जानता कि वह काम के लिए होती है। काम उसे जानेवाला है। सेवा के लिए आती तो उसका सदुपयोग होता।

सत्तावादी कहते हैं सत्ता सामर्थ्यवती देवी है। 'वह अपने ही लिए' है। सत्ता की प्राप्ति के लिए सेवा ही तो काम आ सकता है। सत्ता को कायम रखने के लिए भी सेवा की जा सकती है। परन्तु सत्ता स्वयं-भू है।

सारे साम्राज्यवादी इस विषय में एकमत दिखाई देते हैं।

(मराठी हरिजन २१-२ '४०)

शंका-समाधान ३१

दो बहनें लिखती हैं–

प्रश्न १– विनोबा के अहिंसा-विषयक परिपत्र वाले कारण का पूरा था स्त्री-पुरुषों के विषय में अभेद। परन्तु हमारा ख्याल है कि कम-से-कम कुछ बातों में तो भेद करना ही पड़ेगा। स्त्रियों को मासिक धर्म, गर्भावस्था और प्रसूति का भार उठाना पड़ता है। इससे सम्बन्ध रखनेवाली शिक्षा तो उन्हीं को देनी चाहिए। पुरुषों को इस शिक्षा की कोई जरूरत नहीं होती। इससे केवल उनका समय ही नष्ट होगा। माता जबतक बच्चे को

दूध पिलाती है तबतक बच्चे के शारीरिक और मानसिक विकास का ध्यान रखना जितना माता के लिए आवश्यक होता है उतना पुरुष के लिए नहीं । इसलिए इस विषय की शिक्षा भी स्त्रियों को अलग से ही मिलना जरूरी है ।

प्रश्न २–दोनों का संवर्धन एक ही प्रकार के वातावरण में हो तो भी दोनों के शारीरिक विकास में अंतर तो पड़ेगा ही । स्त्री जनमदात्री होती है । इसकारण उसके स्नायु अस्थि आदि मृदु रहेंगे । इस मृदुता को सह्य हो और वह टिकी रहे ऐसे ही कार्यभार उसे देना चाहिए । और कार्य दूसरे हैं तो शिक्षा में भी स्वभावतः फर्क हो जायगा ।

प्रश्न ३– सात से चौदह वर्ष की उम्र तक दोनों को समान शिक्षा दी जाय । इसके बाद प्रत्येक की अभिरुचि और जरूरत के अनुसार शिक्षा दी जाय ऐसा शिक्षा-शास्त्री कहते हैं ।

स्त्री स्त्री है इसकारण उसकी रुचि और आवश्यकताएं स्वभावतः पुरुषों से भिन्न होगी । हम अपनी पाठशालाओं में भी देखती हैं कि सब स्त्रियों की गणित आदि विषयो की अपेक्षा सीना-पिरोना रसोई आदि कामो में अधिक रुचि होती है । इसलिए उनके लिए भिन्न पाठ्यक्रम होना ही चाहिए । इस प्रकार की रुचि यदि किन्हीं लड़कों का हो तो वे भी इस पाठ्यक्रम का लाभ उठा सकते हैं ।

प्रश्न ४– यह प्रश्न कुछ अलग प्रकार का है । 'हर स्त्री सीता बन सकती है' इस लेख में कहा गया है कि 'बच्चों को सजा का डर दिखाकर सुधारने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए । उन्हें निर्भय बनाना चाहिए । यह बात सबको जंचने लायक है । परन्तु बहुत बार यह आसान नहीं होता । हमारी एक भानजी है । ढाई वर्ष की । वह बहुत जिद्दी और रोनी है । एक बार रोना शुरू हुआ कि घंटों रोती रहती है । आप चाहे कितना ही समझावें । घर में काम करना कठिन हो जाता है । ऐसे बच्चों के लिए एक स्वतंत्र नर्सरी हर घर में नहीं रक्खी जा सकती । इसलिए कभी कभी उसे डांट-डपट दिखाकर या पीटकर चुप करना पड़ता है । यह लड़की निश्चय ही डरपोक होगी । हमारे समाज में एक भी मनुष्य भीरु नहीं होना चाहिए । परन्तु यह बने कैसे ?

पहले तीन प्रश्नों पर एकसाथ विचार करेंगे। मेरे भाषण का मुख्य विषय स्त्री-पुरुषों के शिक्षण में कोई भेद न हो यह नहीं था बल्कि यह था कि कुल मिलाकर स्त्री-पुरुषों में मूलतः अभेद है। सामाजिक दरजा आर्थिक अधिकार, नागरिक अधिकार, कुटुम्ब में स्थान नैतिक योग्यता विकास-क्षमता मानसिक भाव गुणोत्कर्ष ये सारी बातें दोनों में समान होती हैं। समान होनी चाहिए, यह उस भाषण का मुख्य मुद्दा। स्थूल विवरण में कुछ फर्क हो सकता है। उससे मूल बात में कोई फर्क नहीं हो जाता। पुरुषों-पुरुषों में भी विशिष्ट शिक्षा की जरूरत हो सकती है। वैसी स्त्री-पुरुषों में भी हो सकती है। यह बात तो उस भाषण में भी कह दी गई थी। सन्तान के बारे में विशेष ज्ञान भी स्त्रियों को जरूर दिया जाय। परन्तु पुरुष को उसकी जरा भी जरूरत नहीं है ऐसी बात नहीं है। सन्तान विषयक जिम्मेदारी तो दोनों की होती है। भले ही उसके प्रकार में कुछ अंतर हो।

परन्तु मुख्य विचारणीय विषय तो यह है कि दोनों में जीवन का उद्देश एक है या भिन्न भिन्न? मैं कहता हूं कि वह एक ही है। मानव-जीवन का उद्देश है पूर्णता प्राप्त करना। उसके अन्तर्गत बहुत से कार्य आ सकते हैं। उन भिन्न कार्यों के लिए भी मनोविकास की बुनियाद की जरूरत होती है। इस प्रकार बुनियाद एक है शिखर एक है और बीचवाली इमारत का आकार भी एक है इतना ध्यान रखकर फिर चाहे कितनी खिड़कियां वाला वगैरा हो रंग-पुताई कैसी हो यह भले ही अपनी रुचि और जरूरतों के अनुसार कर ले। अब शिक्षा की भाषा में यह कैसे करें यह देखना रहा।

आज लड़के-लड़कियों की अभिरुचियों और पाठ्य विषयों के चुनाव में जो फर्क दिखाई देता है उसका कारण सामाजिक रूढ़ियां हैं। रसोई, सीना-पिरोना इत्यादि विषय लड़कियों को अधिक पसन्द होते हैं ऐसा कहना ठीक ही है। मैंने ऐसी लड़कियां देखी हैं जिनकी गणित में रुचि है। और रसोई बनाने का शौक रखनेवाला पुरुष तो मैं खुद ही हूं। मुझे गणित की भी रुचि है। ऐसा एक भी विषय मुझे नहीं दिखा जो मुझे अच्छा नहीं लगा हो। आज के कृत्रिम सामाजिक वातावरण को यदि

हटा दें और अकारण के निष्क्रिय बौद्धिक विषयों की पढ़ाई बन्द कर दी जाय तो मेरे समान सभीको सब विषय अच्छे लगने लग जावेंगे और पढ़ाई में स्त्री-पुरुषों का भेद भी नहीं रहेगा।

चौथा प्रश्न मनोरंजक है। निर्भयता सब गुणों का आधार है। उसे गंवाकर दूसरा कुछ भी कमाने की बात करना अज्ञानपन का लक्षण है। यह निश्चय हो जाने के बाद तो उस प्रश्न में केवल मनोरंजन ही रह जाता है। उसका सामाजिक उत्तर देना हो तो पूर्वबुनियादि शिक्षण की योजना अर्थात् बालवाड़ी है। और कौटुम्बिक उत्तर यह है कि बच्चों को आनुषंगिक—अर्थात् नं २ की वस्तु नहीं बल्कि मुख्य वस्तु समझकर उसके अनुसार गृहस्थजीवन की योजना की जाय यह है। सही उपाय तो यह है कि यह लड़की जिस प्रकार पूरे दिल से रोती है उसी प्रकार उसकी मामी को दिल से हंसते आना चाहिए। इस उपाय को जरूर आजमा कर देखें। हंसी के सामने रोना टिक ही नहीं सकता। शर्त केवल यही है कि रोना यदि दिल के साथ हो रहा है तो हंसी भी दिल के साथ हो। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि छोटे बच्चों में जितनी समझ होती है उतनी बड़ों में नहीं होती। इसलिए ज्ञानी पुरुषों ने एक आचारसूत्र ही बना दिया है कि 'बच्चों के समान रहो'। एक डरनेवाला बौआ भी बच्चे को डरा सकता है। एक अबोध बालक अपनी मा पर पूरा विश्वास करके उसके उदर में जन्म ग्रहण करता है, निर्भयता के साथ उसकी गोद में सोता है और वह जिसे चांद कहती है उसे चांद और जिसे सूर्य कहती है उसे सूर्य समझ लेता है। ऐसे बच्चों के बारे में मा-बाप किस मुंह से शिकायत कर सकते हैं? फिर भी पत्रकार बहिन के लिखे अनुसार मामी के दिल में बच्चों को पीटने की ही प्रेरणा हो तो इस क्रिया का कर्मत्व यह अपने आपको ही बना ले।

(मराठी हरिजन २१ २ ४७)

श्री अण्णासाहब दास्ताने ने गांव-सफाई और खास तौर पर भंगी काम के बारे में कुछ प्रश्न पूछे थे। इस विषय में उनसे चर्चा हो चुकी है। उसका सार इस प्रकार है—

गांव में भंगी रखा जाय ?

१ नहीं। भंगी की जात अब बढ़नेवाली नहीं है। भंगी-काम का ढंग अब ऐसा होना चाहिए कि यह काम करते हुए किसीको भी असुविधा नहीं हो। और गांव की व्यवस्था में भी दूसरों को उसमें हाथ बटाना चाहिए। कोई मनुष्य अस्पृश्य नहीं रहे। इसी प्रकार कोई काम भी अस्पृश्य नहीं रहे। देहात में भंगी नहीं होते यह भगवान की दया समझिये। गांव के लोगों को यह काम सेवा की भावना से उठा लेना चाहिए।

२ मैले पर मिट्टी डालकर ढांकी जाय। उसे खुला रहने देना छठा महापातक है।

३ मिट्टी के अलावा पत्तियां वगैरा भी उसपर डाल सकें तो अच्छा। इससे गन्दगी जरा भी नहीं बढ़ेगी। मक्खियां भी नहीं होंगी। और सोनखाद गोबरखाद बन जायगा। यह खेती के लिए अधिक लाभ दायक होता है। भारत की जमीन पर सब हजार वर्ष से हल चल रहे हैं। उसमें ताकत रखने के लिए खाद का मिलना बहुत जरूरी है। गांवों के लोगों को यह बात समझनी चाहिए। चीन-जापान के लोग खाद के महत्त्व को जानते हैं। इस कारण छोटे-छोटे जमीन के टुकड़ों से वे बहुत उपज करते हैं।

४ खुले में शौच जाने की आदत छोड़ देनी चाहिए। इसके लिए साधारणतः पन्द्रह-बीस बैठकों वाली झोंपड़ियां खड़ी की जायें। उनमें घर (लम्बे चौड़े) बने हों। या ईंटों से बंधे हों। झोंपड़ी की जगह जरा ऊंची हो ता कि बरसात के दिनों में भी काम दे।

५ झोपड़ियां बनाने का खर्च गांववाले उठायें। उनके लिए यह भारी नहीं। एक आदमी के मल से वर्ष में दो रुपये की आय हो जाती है। यह पुराना हिसाब है। आज के हिसाब से तो दस रुपये की होगी। इस प्रकार जिस गांव की आबादी एक हजार है उसे केवल इस मल से कम-से कम छ हजार रुपये साल की आय हो जावेगी। झोपड़ियां डालने में मोटे अनुमान से चार हजार रुपये से अधिक खर्च नहीं लगना चाहिए। आय का अनुमान और भी कम करके तिहाई मान लें तो भी दो हजार रुपये साल से कम नहीं होगा। अर्थात् झोपड़ियों की लागत दो वर्ष में वसूल हो जायगी। ये झोपड़ियां कम-से-कम दस वर्ष तो काम देंगी। जिनके पास बगीचे हैं वे अपने खर्च से ऐसी झोपड़ियां गांव के लोगो के लिए बनवा दें। खाद का उपयोग वे अपने बगीचे के लिए करें। और मल पर डालने के लिए मिट्टी वे दें। ऐसी सामयी व्यवस्था हो जाय तो भी काम चल सकता है।

६ हरगांव में ग्राम-पंचायत हो। गांव का प्रबन्ध उसके हाथ में हो। इसमें यह बात भी आ जायगी। पाखानों की झोपड़ियां बनाने के लिए सरकारी मदद की जरूरत नहीं होनी चाहिए। विशेष परिस्थिति में सरकार कर्ज दे सकती है। जिसकी अदाई दो या तीन किस्तों में हो जाय।

७ हां गांव के आसपास ये झोपड़ियां बनाने के लिए जगह उपलब्ध करने में सरकार को मदद करनी होगी। सच पूछिए तो गांव के लोगों को चाहिए कि इस प्रकार के कामों के लिए वे आवश्यक स्थान दान में दें। समझदार लोग ऐसा करेंगे भी। परन्तु जहां यह संभव नहीं हो वहां सरकार इसमें मदद कर दे।

८. इस विषय की जानकारी उपलब्ध कर देने का काम सरकार करे। इसी प्रकार इस जानकारी का हर गांव में ठीक उपयोग किया जा रहा है या नहीं इसका भी सरकार ध्यान रक्खे। इसके लिए जो खर्च लगे वह सरकार उठावे। इसके अतिरिक्त सरकार पर इस काम के निमित्त कोई खर्च का भार नहीं पड़ना चाहिए

... अहिंसक लोक-राज्य का लक्षण यह है कि सरकार की जरूरत कम से कम हो। हर बात में सरकार पर निर्भर रहें यह स्वराज्य-वृत्ति नहीं है। इसलिए लोक-सेवकों को ग्राम-सेवा की योजनाएं सरकार निरपेक्ष बनानी चाहिए। इनमें से जिन योजनाओं में वास्तव में कोई खर्च नहीं लगता बल्कि लाभ ही होता है उनका भार सरकार पर डालना बिलकुल शोभाजनक नहीं है। खाद का यदि सही सही उपयोग किया जाय तो हर गांव में यह एक सोने की खान सिद्ध हो सकती है। इसकी आय से गांव के अन्य सार्वजनिक कामों के लिए भी पैसा मिल सकेगा।

(मराठी हरिजन १-४७)

जीवन-समस्या का हल ३६

प्राणी का जीवन वासनाओं का एक बोझ है। वासना अर्थात् जीव का जीवत्व। अन्य प्राणियों की तरह मनुष्य के जीवन में भी यह बोझ चल रहा है। तटस्थ भाव से देखें तो यह बात मालूम होगी। परन्तु जो उसमें उलझा हुआ है वह तो उसीके कारण बेजार है। इसलिए अनुभवी पुरुषों ने मनुष्य का अन्तिम ध्येय यह बताया कि वासनाओं से छुट्टी मिले।

परन्तु वासना जैसे रुलाती है उसी प्रकार हंसाती भी है। हंसाने वाली वासना हमें अच्छी लगती है। परन्तु उसकी भी एक मर्यादा होती है। उस मर्यादा से बाहर जानेपर वह भी दुखदायी हो जाती है। इसीलिए तो जब बच्चे बहुत हंसते हैं तब मां उनको समझाती है कि बहुत हंसा मत नहीं तो रोओगे।

दुखदायी वासना नहीं चाहिए, सुख देनेवाली हो यह है वासना विवेक। सुखदायी वासना भी जरूरत से अधिक न हो इसे वासना-नियमन कह सकते हैं। और सभी वासनाओं से छुट्टी को वासना-निरसन कहते हैं।

वासना निरसन बड़ी दूर की बहुत ऊंची बात है। जीवन में हम शायद ही उसमें सफलता प्राप्त कर सकें। परन्तु यह निरुपयोगी चीज नहीं है।

रेखा-दर्शक ध्रुव के समान यह उपयोगी है। वहाँ तक हम आज या आगे भी कभी नहीं पहुँच सकते। परन्तु वही हमारे जहाज को सम्मत रखता है।

चिंतन का यह काम है कि इस ध्रुव तारे की दिशा में प्रतिदिन वासना विवेक और वासना नियमन करता रहे। इसकी बाहरी योजना समाज शास्त्र करता है और भीतर का काम धर्म करता है। इन दिनों हम देखते हैं कि कुछ लोग धर्म के नाम से ऊब गये हैं। तब उनका सारा आधार स्वभावतः समाज-शास्त्र बन जाता है। इस कारण बेचारा समाज-शास्त्र बड़ा परेशान है। जब वह बहुत तंग हो जाता है तो वह भी तापदायी बन जाता है। उससे बगावत की भावना पैदा होती है। उसे दबाने के लिए राज्य सत्ता खड़ी होती है। धर्म गया कि राज्य आया ही। फिर वह पूंजी-पतियों का साम्राज्य हो किसानों और मजदूरों का अधिराज्य हो या सिरों की गिनती करनेवाला प्रजा-तंत्र हो।

खराब वासना को छांटें और अच्छी को पकड़ें। उसे भी अपरिमित रूपसे नहीं बढ़ने दें काबू में रक्खें। फिर उसका क्या करें? उसकी पूर्ति करें। इसे हम वासना-समाधान कहेंगे। यह कैसे सधेगा? यह भी एक पेचीदा सवाल है। अनेकविध वासनाओं के साथ मनुष्य में आलस्य की भी एक वासना होती है। यह वासनाओं की प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया ही होती है। भली-बुरी छोटी-बड़ी सब वासनायें एक तरफ और यह आलस्य की वासना एक तरफ हो जाती है। और फिर इनकी खींचतान चलती है। भीतर से मनुष्य चाहता है कि वासनाओं का निरसन हो। परन्तु देह भावना से जबतक मनुष्य अलग नहीं हो जाता यह बनना संभव नहीं। यह तो परम पुरुषार्थ का काम है। उस करने का दिखाव यह आलस्य वासना करती रहती है। वासना-निरसन का एक सरल और सुलभ मार्ग प्रकृति ने निर्माण कर दिया है। वह है शरीरश्रम। उसे टालकर वासना-पूर्ति कैसे की जाय यह प्रयत्न आलस्य वासना का होता है। फिर वासनाओं को परिमित रखने का लक्ष्य भी नहीं रहता। वर्तमान में भविष्य की तैयारी कैसे की जाय यह ख्याल खड़ा होता है और वह संचय-परायण अनर्थकारी

अर्थशास्त्र का निर्माण करता है। वेदों में इस पर एक सूक्ति है 'अद्य अद्य श्वः श्वः' अर्थात् आज की चिन्ता आज और कल की चिन्ता कल पर छोड़ दो। इसे हम वासना-नियमन कहेंगे।

कुछ विचारवान पुरुष स्व-संतोष से यह वासना-नियमन सदा करते रहते हैं। और करोड़ों लाचारी से कर रहे हैं। परन्तु सबको यह सन्तोष के साथ सध जाय इसका एकमात्र उपाय यही हो सकता है कि शरीर श्रम-निष्ठा के साथ सभी एक दूसरे का ध्यान भी रक्खें। इसको गीता में आत्मौपम्य या साम्ययोग कहा है। यह मानवजीवन की पहेली का हल है। क्योंकि इसमें आज की वासना का समाधान और अंतिम वासना-निरसन दोनों की गुंजाइश है।

(मराठी हरिजन ९ १ ४७)

ग्राम-सेवा संबंधी प्रश्नोत्तर ३४

प्रश्न–१ वस्त्र-स्वावलंबन का प्रचार गांवों में किस प्रकार किया जाय? इसके साधन क्या हों? लोग फुरसत के समय में कातें या कातने की आदत बना लें?

उत्तर– खेत से अच्छी कपास चुन लें। उसकी धुनाई, कताई और बुनाई करके गांव में ही बुनकर से बुनवा लें। या खुद बुन लें। बुनाई कर लेने के बाद बुनने में कठिनाई नहीं होती। साधन सभी सुलभ हों और यदि संभव हो तो वहीं के बने हुए हों। फुरसत के समय में खूब कातें और आदत भी डाल लें।

प्रश्न–२ जो किसान या नौकर सुखी हैं उन्हें चरखा महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। उन्हें कातने के लिए कैसे प्रवृत्त किया जाय?

उत्तर– जो लोग सुखी हैं उन्हें यदि यह समझाया जा सके कि उन्हें दूसरों की चिन्ता करनी चाहिए तो वे कातने के लिए राजी हो सकेंगे।

प्रश्न–३ जिसके पास नाममात्र की जमीन है, उन्हें कातने का अब काम नहीं मिलता वे क्या करें?

उत्तर—वे एक सालदार (वार्षिक नौकर) इस काम के लिए रक्खें। उसे पूरी मजदूरी दें। फिर यह सूत बुनवा लें और नौकरसहित घर के सब लोग खादी पहनें।

प्रश्न—४ गांवों में रास्तों पर गन्दा पानी बहता या फैलता रहता है। उसका क्या करें ?

उत्तर— रास्ते ठीक करें, नालियां बनावें सोख-खड्डा तैयार करें। *श्री बालूभाई मेहता ने गांव-सफाई पर एक किताब लिखी है। इस विषय की अधिक जानकारी उसमें पढें।* *

प्रश्न—५ हरिजनों की सेवा करने का यत्न करने पर भी यदि वे सेवा लेना नहीं चाहें तब क्या करें ?

उत्तर— यदि किसी को सेवा की जरूरत न हो तो वह उस पर लादी नहीं जाय। जिसे जिस सेवा की जरूरत हो वही दी जाय। हरिजनों की सच्ची सेवा तो यह है कि हम स्वयं हरिजन बन जावें। यह हमारे हाथ की बात है।

प्रश्न—६. शराब का व्यसन जिन्हें है, वे यदि शराब छोड़ने जाते है तो बीमार हो जाते हैं। तब क्या करें ?

उत्तर— प्राकृतिक उपचार से उन्हें अच्छा करें। इस प्रकार अच्छे हो जानेपर वे फिर से कभी शराब पीने की इच्छा भी नहीं करेंगे। यदि इच्छा हो तो समझना चाहिए कि उसकी रोग यह इच्छा ही है।

प्रश्न—७. कई लोग छिपकर चोरी से शराब बनाते हैं। मना करने और समझाने पर भी नहीं मानते। तब क्या इसकी शिकायत पुलिस से करनी चाहिए ?

उत्तर— सेवक सेवक का काम करें और पुलिस अपना। सेवक को सत्याग्रह की शक्ति मालूम होनी चाहिए।

प्रश्न—८ गांवों के होटलवाले और बीड़ीवालों का संगठन बनाकर उनके लिए तम्बाकू आदि उपलब्ध करने तथा सिले हुए तैयार कपड़े

* इस विषय पर श्री वल्लभस्वामी की 'सफाई-विज्ञान-और कला' यह पुस्तिका प्रकाशित हुयी है।

बनाकर बेचनेवाले दर्जियों के लिए मिल का कपड़ा मिलने की सुविधा ग्राम-सेवक को करनी चाहिए या नहीं ?

उत्तर– यों ग्राम-सेवक के क्षेत्र में सब प्रकार की सेवा आ जाती है। परन्तु ग्राम-सेवक का काम यह नहीं है कि ग्रामवासियों का मनचाहा सब प्रकार का जीवन चलाने में मदद करे। वह अपने लिए कुछ मर्यादायें बना ले और इन मर्यादाओं में रहते हुए जो सेवा हो सके उतनी से सन्तोष मान ले। रोगियों की सेवा के बारे में जिस प्रकार हमने प्राकृतिक उपचार को अपनी मर्यादा बना लिया है और दूसरे बहुतसे औषधों की झंझट में नहीं पड़ते उस प्रकार इसमें भी करें।

प्रश्न–८. ग्राम-सेवक स्वयं कितने घण्टे शरीरश्रम और कितने घण्टे सेवा करे ?

उत्तर– सेवक आठ घण्टे विश्रान्ति और चार घण्टे देहकृत्य करे। शेष बारह घण्टों में चार घण्टे उत्पादक शरीर-श्रम चार घण्टे गांव की सेवा और चार घण्टे स्वाध्याय प्रार्थना और आत्म-चिन्तन करे।

(मराठी हरिजन १९-४७)

आत्म-धारणा विरुद्ध धन-धारणा ३५

एक पाठक लिखते हैं–"पैसा नहीं उत्पादन चाहिए, यह लेख ध्यानपूर्वक पढ़ा। उसमें परिस्थिति का जो विश्लेषण और निदान किया है वह जचता है। परन्तु पानी के प्रश्न को उसमें जितना आसान बताया गया है इतना आसान वह वास्तव में नहीं है। यह सच है कि अन्न वस्त्र और घर के बारे में गांव अधिकांश में स्वावलम्बी हो सकेंगे। परन्तु मनुष्य की जरूरत केवल इतनी तो नहीं है। पच्चीस वर्ष पहले चाय पानी की जरूरत नहीं थी। परन्तु आज तो वह गांवों में भी एक आवश्यक चीज बन गई है। अभी तक ग्रामीण जनता के रोगों के उपचार की किसीने चिन्ता नहीं की थी परन्तु अब तो हमारी सरकार को इसका ध्यान रखना ही

पड़ेगा। फिर बनावें भी गांवों में बाहर से बेजनी पड़ेंगी। कोई चाहे मा न भी चाहे आज की हालत में जब कि यातायात के साधन बढ़ गये हैं जो जरूरतें पहले केवल शहरों तक ही सीमित मानी जाती थीं वे अब गांवों में भी आवश्यक बन जायेंगी। गांवगांव में शाखायें खोलनी होंगी और शाखायें खुलनेपर उनके अंग के रूप में कई नई जरूरतें वहां महसूस होने लगेंगी। गांवों को शहरों से अलग मानकर कई बातों में गांवों को थोड़े में समझा देने का यत्न किया जाता रहा है। कागज पर योजनायें बनाते समय भले ही ऐसा मान लिया जाय परन्तु वस्तुतः ऐसी योजनाएं अधूरी साबित होंगी। इसलिए गांवों को भी पैसे के बगैर काम चलाना कठिन हो जायगा।

एक लम्बे पत्र का यह सार है। इसमें मेरे लेखवाली बात प्रश्न-कर्ता अच्छी तरह समझ नहीं पाए हैं। इसलिए उसे खोलकर रखना होगा।

(१) जरूरतें तो बहुत सी होती हैं। परन्तु उनमें तर-तम का विवेक करना पड़ता है। हम सारी जरूरतों को सात वर्गों में बांट सकते हैं— १ अन्न २ वस्त्र ३ घर, ४ औजार, ५ ज्ञान के साधन ६ मनोरंजन ७ व्यसन। सारे देश का विचार करते हुए मैं इन सातों को मान लेता हूं। परन्तु विवेक को छोड़कर सारी जरूरतों की पूर्ति समान रूप से करने की जिम्मेवारी मैं नहीं लूंगा। अन्न के बदले में व्यसनपूर्ति और औजारों के स्थान पर मैं खिलौनों को नहीं आने दूंगा।

(२) खेलों के भी अनेक प्रकार होते हैं। खेल में राजनैतिक कैदियों के लिए बॉलीबॉल खेलने की सुविधा कर दी गई थी। अर्थात् एक साधारण खेल के लिए रबर को जरूरी बना दिया गया जो भारत में पैदा नहीं होता। खोखो कबड्डी इत्यादि खेलों में शरीर को तो व्यायाम हो ही जाता है आनंद भी आता है साथ साथ बुद्धि का भी थोड़ा व्यायाम हो जाता है। यही बात व्यसनों को भी लागू होती है। सदोष व्यसनों को हटाकर उनके स्थान पर निर्दोष व्यसन हैं। और इनकी पूर्ति भी यहीं हो जाय। माफिक रहने के कारण पचीस वर्ष में जाय घर कर लेती है तो सावधान हो जाने पर उसे हम घर में ही पैदा भी कर

सकते हैं। बच्चों को और बड़ों को इसके लिए शिक्षण देना होगा। विसर्जन देने की हिम्मत तो करें नहीं और चाय को स्थाई मेहमान मान लें यह मानसिक आलस्य का लक्षण है। और, अगर उसे हम नहीं छोड़ सकते तो जाहिर है कि उसे बाहर से लाना होगा।

(३) मैं गांवों को बाहरी से अलग नहीं मानता। परन्तु मैं चाहता हूं कि गांव अपनी सारी मुख्य जरूरतें स्वयं वहीं पूरी कर लें। दूसरे नम्बर की जरूरतों में से भी अधिकांश वहीं पूरी कर लें। दूसरी श्रेणी की बची खुची और तीसरी श्रेणी की जरूरत की चीजें बाहर से भी आवें तो कोई हर्ज नहीं।

(४) गांवों में जो कच्चा माल होता है उसका पक्का माल जहांतक संभव हो, गांवों में ही हो जाय। गांवों में कपास होती है तो कपड़ा भी वहीं बन जाय। अम्बाड़ी होती है उसके रस्से वहीं बन जावें। चमड़ा होता है तो जूते और चप्पल वहीं बन जाने चाहिए। अपनी जरूरत की चीजें खरीदने के लिए पैसा मिले इस ख्याल से किसानों को पैसा कमाने वाली किन्तु पोषण के लिए अनावश्यक फसलें बोने की जरूरत ही नहीं होनी चाहिए।

(५) गांवों के मजदूरों को फसल की चीजों के रूप में ही मजदूरी दी जाय। उनके घरों में भी विपुल धान्य हो। पिछले पचीस वर्षों में चीजों की कीमतें पांच गुनी बढ़ गई हैं। फिर भी हमारे धार्मिक मजदूरों को पहले की ही भांति ८ कुडव (डेढ़ मन) महीने के हिसाब से धान्य दिया जा रहा है। इस कारण आज वे कुछ सुरक्षित हैं। अगर से उन्हें वहां बीस रुपये दिये जाते थे जो साठ रुपये तक पहुंच गये हैं। परन्तु अनाज तो उतना ही मिल रहा है। यह अनाज एक प्रकार से मजदूरी के लिए बीमे के समान है।

(६) पैसा कपटी है। यह आज एक बात कहता है और कल दूसरी। रुपये की कीमत को पावली से लेकर बीस पावली तक चढ़ते उतरते मैंने इन बीस वर्षों में देखी है। इसलिए मैं उसे कपटी कहता हूं। व्यापार से मिलनेवाला पोषण जब तक न्यूनाधिक नहीं हो जाता तबतक

उसकी कीमत में कोई फर्क नहीं हो सकता। इसलिए मैं उसे सच्ची कहता हूं। पैसा कमाना है उसके हाथों में अपने जीवन को सौंपने के मानी हैं सारे जीवन को कलुषित करना। पर आज यही हाल हो गया है। इसलिए गांवों के भीतरी और आपसी व्यवहार में पैसे का कम-से-कम उपयोग होना चाहिए।

(७) सरकार जमीन का लगान अनाज या सूत की गुण्डियों में लें। गांवों में भी अनाज या सूत की गुण्डिया का लेन देन सिक्के के बदले में हो। मजदूरी में अनाज देने के बाद सिक्के के स्थान पर मैं सूत की गुण्डिया को अधिक पसंद करूंगा।

(८) गांवों में आदर्श आरोग्य हो। आरोग्यविषयक ज्ञान सबको हो। मनुष्य के मैले का व्यवस्थित उपयोग हो। रोग-प्रतिकार की अपेक्षा रोग-निवारण का ध्यान अधिक रहे। सर्वत्र प्राकृतिक उपचार से काम लिया जाय। गांव गांव में स्वय चिकित्सागृह खुल जावें। औषधियों का भी उपयोग करना आवश्यक हो तो आसपास की वनस्पतियों का उपयोग करें।

(९) खेती सामुदायिकता और सहकारिता के आधार पर हो। परंतु इस महान सहकारिता के नाम पर खेती में यन्त्रों को नहीं घुसाया जाय। इस देश में बैल कृषि-देवता है। इसलिए खेती में ऐसे किसी भी यंत्र का प्रवेश न हो जो बैल को बेकार करनेवाला हो।

(१) गोरक्षा उत्तम प्रकार से हो। गांवों में बच्चों को दूध पूरा दिया जाय। छाछ भी सबको मिले। इससे गांव के आरोग्य की रक्षा होगी। शहरों को भी दूध-घी देने की शक्ति गांवों में होनी चाहिए। किसान को बैल बाहर से खरीदने की जरूरत नहीं होनी चाहिए।

(११) ऐसा एक भी खेत न हो जिसमें कपास नहीं हो। किसान घी घर सब्जी और फल खावें। उनके खाते खाते बचे तभी बेचें। बेचना उनका लक्ष्य न हो।

(१२) शिक्षण के नाम पर रबर, रबीन पेन्सिलें इत्यादि चीजें बेच कर के गांवों को लूटा नहीं जाय। शिक्षा के सारे उपकरण यथाशक्य

संचय हो, गांव के ही हों। और वे भी विद्यार्थियों के ही बनाये हुए। इससे उनकी बुद्धि का विकास होगा और जीवन में उनको रस आयेगा। शिक्षा उद्योगमूलक उद्योगाश्रित और उद्योग-प्रति हो। ज्ञान और कर्म के अभेद का यहां अनुभव हो।

(११) गांवों के न्यायदान और सुरक्षा में किसी बाहर के आदमी का हाथ न हो। विशेष प्रसंग पर यदि सरकार से मदद मांगने की जरूरत पड़ी हो जाय तो उसके मिलने की सुविधा रहे। नागरिक अपने को ग्रामीणों का सेवक समझें। नागरिक-शिक्षण और नागरिकता ग्राम-निष्ठ हो।

इस सबको मैं साम्य-व्यवस्था कहता हूं। इसके विपरीत धन-व्यवस्था है जो पूंजीपतियों ने सारे संसार में फैला रखी है।

(मराठी हरिजन ११ १-४०)

सच्ची स्वतंत्रता ३६

स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी ने सन १९०६ में हमारे देश को 'स्वराज्य' शब्द दिया। उस समय के तरुणों में जो छटपटाहट थी वह मुखमुख से प्रकट हुई। उन दिनों हम छोटे बच्चे स्वतंत्रता के गीत गाते थे। उनमें से हमारे मुंह में एक गीत रहता था जिसका भाव था कि "जापान और इटली ने स्वतंत्रता से अपने देश को कैसा सजाया है।' जापान ने लड़ाई में रूस का मुकाबला किया और उसे पराजित कर दिया। गुलामी में सड़ रहे सारे एशिया की मानो उसने इज्जत रख ली। हमें ऐसा लगा जैसे पूर्व में स्वराज्य-सूर्य का उदय हुआ हो। हमारे लोग जापान के शौर्य के गीत प्रेमादर से गाने लगे। गुलामी की बेड़ियों को तोड़कर स्वतंत्र हुए देशों के इतिहास की खोजें शुरू हुईं। आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त होकर इटली १८७० ही में स्वतंत्र हुआ था। स्वभावतः हमारा ध्यान उसकी ओर भी गया। इटालियन देशभक्त मैजिनी और गैरीबाल्डी के चरित्र भारत की सभी भाषाओं में प्रकाशित हुए।

परंतु आज हम क्या चमत्कार देख रहे हैं ? जिस जापान में स्वराज्य सूर्य के उगने का आभास हुआ था वही चीन को अपने पैरों तले रौंदन का प्रयत्न कर रहा है। भारत की सहानुभूति जापान से हटकर चीन की तरफ चली गई। जिस इटली ने मैज़िनी जैसे स्वाधीनता के पुजारी को जन्म दिया उसीने मौका पाकर अबीसीनिया पर हमला कर दिया और स्वभावतः भारत की सहानुभूति इटली से हटकर अबीसीनिया के प्रति हो गई।

यह क्या चमत्कार है ? हमारे अपने इतिहास में भी हम यही देखते हैं। जो मराठे अन्याय के खिलाफ बगावत करके खड़े हुए वही आगे चल कर राजपूतों को पीसने लग गए। उन्होंने उड़ीसा को रौंद डाला। शिवाजी की भारतीय स्वराज्य की भावना को भुलाकर हवा में मराठाशाही की भावना गूंजने लग गई। यह बात दूसरी है कि बाद में मराठों में मादकी मच गई और वह भावना भी हवा में समाप्त हो गई।

परंतु इसमें चमत्कार जैसी कोई बात नहीं है। दूसरे की सत्ता हम पर न हो केवल यहीं तक स्वतंत्रता की प्रीति कोई बहुत बड़ा गुण नहीं कहा जा सकता। वह तो पशुओं में भी पाया जाता है। स्वतंत्रता का सच्चा उपासक तो वह है जो चाहता है कि उसकी सत्ता दूसरों पर नहीं हो। यह चक्कर एक बड़ा गुण कहा जा सकता है।

परन्तु अभी यह गुण मनुष्यों में जड़ नहीं जमा पाया है। बल्कि कहा जायगा कि इसका उल्टा गुण जड़ जमा पाया है। मुझ पर किसी की सत्ता न हो और यथाशक्य मेरी सत्ता दूसरों पर हो — अभी तो मनुष्य की यही वृत्ति है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनुष्य-हृदय उसे स्वीकार करता है। क्योंकि जो महापुरुष किसी पर अपनी सत्ता नहीं चलाते उनके प्रति उसके हृदय में भी आदर है। परन्तु उन्हें 'सामान्य नहीं महापुरुष' कहा जाता है। ऐसे पुरुष सामान्य बन जाने चाहिए। परन्तु आज यह बात नहीं है।

आज की स्वतंत्रता की वृत्ति यह है कि मुझ पर किसी की सत्ता न हो। हां संभव हो तो मेरी सत्ता ज़रूर दूसरों पर हो। इस वृत्ति के पूर्वार्ध को सिद्ध करने का जब कार्यक्रम चलता है तब उसके बारे में

स्वभावतः लोगों में सहानुभूति होती है। परंतु ज्यों ही इस वृत्ति के प्रत्यक्ष से कार्यक्रम शुरू होता है, तब वह सहानुभूति चली जाती है।

ऐसे समय यह आवश्यक है कि हर आदमी अपने हृदय को टटोलकर देखे कि स्वतंत्रता का सच्चा अर्थ उसे कहां तक प्रिय है। कितने माता-पिताओं को ऐसा लगता है कि हमारी सत्ता हमारे बच्चों पर भी न हो? वे अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करें हमारी सलाह पर विचार करें, जंचे तो उसे मानें नहीं जंचे तो छोड़ दें। जब बच्चे छोटे होते हैं तब उन पर कुछ सत्ता चलानी पड़ती है। परंतु वह भी दुख की बात है। जहांतक संभव हो बच्चों को जल्दी ही स्वावलंबी बना देना चाहिए ऐसी छटपटाहट कितने माता-पिताओं में होती है? कितने माता-पिता इतनी सावधानी रखते हैं कि छोटे बच्चों को भी यह आभास न होने दे कि उन पर हम अपनी सत्ता चला रहे हैं? इस प्रकार हर बात उन्हें समझाकर और उनकी बुद्धि को जाग्रत करके उसे चालना देकर, उनकी सम्मति लेकर हर काम करें ऐसा कितने माता-पिताओं को लगता है? कितने माता-पिता संतोष और गौरव के साथ कह सकते हैं कि हमारे बच्चे हमारी सत्ता को नहीं मानते?

और पाठशाला में भी कितने शिक्षक अपना बड़प्पन अपने विद्यार्थियों पर नहीं लादते? कितने शिक्षक बच्चों से कह सकते हैं कि बच्चों मुझसे डरो नहीं। मेरी बात समझ में आवे तो ही उसे ग्रहण करो। मेरे आचरण में यदि कहीं दोष दिखें तो उसका अनुकरण नहीं करो उलटे इन दोषों की तरफ मेरा ध्यान जरूर दिलाओ। यदि यह बात नम्र भाषा में नहीं कह सको तो जैसी भाषा में कहते बने वैसी भाषा में कहो। परन्तु कभी डरकर नहीं रहो। ऐसी शिक्षा कितने शिक्षक अपने विद्यार्थियों को देते हैं? यदि प्रत्येक माता-पिता को भी अपने बच्चों पर तथा तमाम शिक्षकों को भी विद्यार्थियों पर सत्ता चलाने की शरम मालूम हो तो स्वतंत्रता का उदय [illegible] होगा

मेरी सत्ता किसी पर न चले। यदि कहीं ऐसा हो रहा हो तो वह दुख की बात मानी जाय जब मनुष्य का मानस ऐसा बनेगा तभी स्वतंत्रता का उदय होगा।

(मराठी हरिजन ११ ८)

वाणी ईश्वर द्वारा मनुष्य को दी गई एक बड़ी देन है। मनुष्य के चिंतन का यह फलित है। और चिंतन का साधन भी यही है। चिंतन के बगैर वाणी नहीं और वाणी के बगैर चिंतन नहीं और दोनों के बगैर मनुष्य नहीं।

मनुष्य के जीवन का समाधान संतुलित वाणी के संयम पर और सदुपयोग पर निर्भर है। मनुष्य के सारे चिंतन-शास्त्र वाणी पर आधारित हैं। दर्शनों का सारा प्रयास विचारों को वाणी में अच्छी तरह पेश करने के लिए होता है। वाणी विचार का शरीर ही है। अमुक एक विचार किसी खास शब्द में ही समाता है। इसलिए गंभीर चिंतन करनेवाले निश्चित वाणी की तलाश में रहते हैं।

पतंजलि के बारे में कहते हैं कि उसने चित्त-शुद्धि के लिए योगसूत्र लिखे, शरीर-शुद्धि के लिए वैद्यक लिखा और वाक्-शुद्धि के लिए व्याकरण महाभाष्य लिखा। ये तीनों चीजें लिखनेवाला पतंजलि एक ही था या अलग-अलग इस ऐतिहासिक प्रश्न पर अभी हम विचार नहीं करते। परंतु महत्त्व की बात यह है कि व्याकरण का उद्देश्य वाणी की शुद्धि माना गया है।

धर्मशास्त्रों की मुख्य सिखावन है कि वाणी में हरिनाम लेते रहना चाहिए। शरीर संसार में काम करते हुए चल रहा हो, परन्तु वाणी में संसार न हो। वाणी का मन पर बड़ा गहरा असर पड़ता रहता है। कोई शब्द जब मुखर की आदत हो जाती है, उसे बरकरार कर अपने आप बार-बार का जतन। इसका उलटा बार नींद में भी मन में घूमता रहता है। तुलसीदासजी ने कहा है—

राम नाम मणिदीप धर जीह देहरी द्वार
तुलसी भीतर बाहर हूं जो चाहसि उजियार

धार्मिक पुरुषों का सब से पहला आदेश है सत्यं वद । सारे व्यवहार वाणी पर अवलंबित हैं । इस वाणी को ही जिसने चुरा लिया उसने सब प्रकार की चोरी एक साथ कर ली । इस प्रकार मनु ने इसका खुलासा किया है । कानून भी चाहता है कि "सत्य पूर्ण सत्य और केवल सत्य" ही कहो ।

वाणी से मित्रता और बैर भी बन जाता है । वाणी का बैर जितना टिकता है शस्त्रों का भी उतना नहीं टिकता । इसलिए सारे विश्व से मैत्री की इच्छा रखनेवाले विश्वमित्र की प्रार्थना है— "अमृतं मे आसन्" मेरी वाणी में अमृत हो । परन्तु सहृदय व्यक्ति के वचन भी कटु होते हैं ऐसा आजकल का अनुभव है । परन्तु सही बात तो यह है कि उतावले लोग ही कटु बोलते हैं । उन्हें आदमियों की पहचान नहीं होती तब वे उतावले होते हैं और फिर कटु बोल जाते हैं । अन्यथा तो वे मित और मधुर *बोलते हैं और काम में लग जाते हैं ।*

मधुरता सत्य का अनुपान है और मितता उसका पथ्य है । जिसे *हम निश्चित वाणी कहते हैं वह सत्य मित और मधुर होती है ।* वही परिणामकारक भी होती है । समाज का हित किस बात में है यह समझना कभी कभी कठिन हो । परन्तु निश्चित वाणी से ही वह सर्वथा सब हर आदमी के लिए समझना कठिन न होगा ।

परन्तु आज यही भारी हो गया है । समाज-हित के नाम पर कार्यकर्ताओं की वाणी दूषित हो गई है । अर्थात् मन ही दूषित है । फिर दृष्टि कैसे भूषित हो सकती है ?

आज लेखन और भाषण के साधन सुलभतम हो गये हैं । परन्तु शायद इसी कारण सभ्य वाणी दुर्लभ हो गई है । कवि की भाषा में सभ्य *वाणी का साक्षर सुलभ साधना की प्राप्ति करना आँखें खोकर चित्र* दर्शन जैसी या मखौल की बात है । मानव की महत्ता केवल सुलभ साधनों के उपार्जन में नहीं । सुलभतम साधन प्राप्त करके उनका कुशलतम उपयोग करने में मनुष्य की महत्ता है ।

(मराठी हरिजन ता १ -१-४)

महारोगी-सेवा* १८

प्रास्ताविक

महारोग-निवारण का काम करनेवाले सेवकों का यह सम्मेलन है। यहां दो शब्द कहने की जिम्मेदारी मुझपर आ गई है। वास्तव में यह काम विशेषज्ञों का है। मैं इस विषय का विशेषज्ञ नहीं हूं। और विषयज्ञ की हैसियत से बोलने की मुझ से आशा भी नहीं की जा रही है। मैं तो इस काम से प्रेम रखनेवाले और हितैषी के रूप में ही बोल सकता हूं। सुनने वाले भी इसी दृष्टि से सुनें।

समग्र ग्राम-सेवा की संतान

आप जानते हैं की आज लगभग बारह वर्ष से यहां पर एक छोटी सी संस्था महारोगियों की सेवा का काम कर रही है। यह काम करने की हमने पहले से कोई कल्पना या योजना नहीं बनाई थी। सन १९१२ से हम लोगों ने गावों की सेवा के लिए देहात में सतत घूमने का कार्यक्रम शुरू किया। दो तीन साल तक इस प्रकार घूमने के बाद हमने कुछ गांव चुने और वहां अपनी कल्पना के अनुसार खादी हरिजन-सेवा आदि लोक-सेवा के काम शुरू कर दिये। गांव गांव घूमते हुए गांवों की जरूरतों का निरीक्षण और उनको कैसे पूरा किया जाय इस विषय की चर्चामें भी सर्वत्र चलती रहती। इस निरीक्षण में हमने देखा कि इस भाग में महारोग का भयंकर—हमने कभी कल्पना नहीं की थी उससे अधिक—फैलाव है। सरकारी आंकडे भी प्रकाशित हुए ही। परन्तु हमने यह पाया कि सरकारी अंकों को कम से कम चार से गुणित करेंगे तब कहीं वस्तु-स्थिति का दर्शन होगा ऐसी हालत है। तब सवाल खड़ा हुआ कि क्या

---

* वर्धा में ता ११-१०-१९४० को भारत के कुष्ठ रोग निवारण का काम करनेवालों की एक परिषद हुई थी। इस परिषद मे विनोबा का यह भाषण पढा गया था। किसी कारण से वे स्वयं इस परिषद में उपस्थित नहीं हो सके थे।

किया जाय। अंतमें तय हुआ कि इस काम को हाथ में लिये बगैर काम नहीं चलेगा और मेरे मित्र श्री मनोहरजी की लगन से यह कार्य शुरू हुआ। उनमें लगन तो बहुत थी। परन्तु इस विषय का ज्ञान नहीं था। और ज्ञान के बगैर तो काम चल ही नहीं सकता! लगन ने ही ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग भी खुला किया। तबतक रचनात्मक कामों की सूची में आज की भांति हमने महारोगी-सेवा के काम को जोड़ा नहीं था। फिर भी गांवों के सामने समग्र ग्रामसेवा की कल्पना तो थी ही। उसमें से यह सहज ही बन पड़ा।

यों यहां के काम में कुछ भी विशेषता नहीं है। न तो कोई नयी खोज की गई है और न काम का विस्तार ही अधिक हो पाया है। परन्तु मेरा ख्याल है यह समग्र-ग्राम-सेवा की एक संतान है, यही यहां के काम की विशेषता कही जा सकती है। फिर ईसाई मिशनरियों को छोड़कर यह काम करनेवाली अन्य संस्थाएं इस देश में बहुत कम हैं। इस कारण हमारी इस संस्था को शुरू में ही एक श्रेय मिल गया है। आप चाहें तो इसे भी एक विशेषता कह लें।

महारोग की प्राचीनता

यह रोग संसार में सर्वत्र एकसा नहीं है। कहीं कम भी नहीं तो कहीं अत्यधिक है। जहां अत्यधिक है उन देशों में हमारे देश की गिनती है। यहां पर यह बहुत प्राचीन काल से है। इसका उल्लेख वेदों तक में मिलता है। एक वैदिक ऋषि भगवान से कहते हैं 'भगवन् मैं तेरे सामने अपना रोना रो रहा हूं। मेरे लिए दौड़े आओ। यह ब्रह्मवादिनी घोषा अपने कुष्ठरोग के निवारण के लिए जिस प्रकार तुमसे करुण पुकार करती थी और तूने उसपर कृपा की इसी प्रकार मुझपर भी कृपा कर। पता नहीं इस ऋषि को कौनसा रोग कष्ट दे रहा था। शायद उसका यह दुःख आध्यात्मिक होगा। मनोविकाररूपी महारोगों के निवारण के लिए शायद उनकी यह छटपटाहट हो। ब्रह्मवादिनी घोषा का रोग भी केवल श्वेत कुष्ठ था या यही महारोग था यह भी हम नहीं कह सकते। शब्द से श्वेत कुष्ठ का सूचन होता है परन्तु भाव से महारोग से अधिक मेल खाता

है। जो हो इतना तो निर्विवाद है कि यह रोग इस देश में बहुत प्राचीन काल से है। वेदों में लिखा है कि ब्रह्मवादिनी घोषा का यह रोग ईश्वर भक्ति से दूर होगया। और यह भक्ता हमारे समय में बहुत प्राचीन कालसे आजतक चली आ रही है।

निदान

यहां के लोग बहुत प्राचीन काल से यह भी जानते हैं कि इसपर चालमोगरे का उपचार चलता है। यह भी मान्यता है कि इसके रोगी को समाज से अलग रखना चाहिए। परन्तु व्यवहार में इस कल्पना का अमल केवल बहिष्कार और तिरस्कार तक ही सीमित है। यह दुर्दैव की बात है। यहां की अस्पृश्यता की जड़ में जो ऐतिहासिक कारण रहे हैं उनमें महारोगी को दूर रखने की भी कल्पना रही होगी ऐसा मानने की गुंजा इश है। महारोग के कारण क्या होंगे इसकी मीमांसा करना मेरा काम नहीं। उसकी जरूरत भी नहीं। अनेक विशेषज्ञों ने यह की ही है। उस सब का सार यही है कि इसका कोई एक निश्चित कारण नहीं बताया जा सकता। हमारे देश के भोले लोग—और इनमें मैं अपनी भी गिनती कर लेता हूं— इसके कारण पूर्व जन्म के दोष बताते हैं। वैज्ञानिक भाषा में यही कहा जा सकता है कि 'कारण तो जरूर कुछ होना ही चाहिए। परन्तु वह क्या है यह कोई निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। व्यक्तिगत रोग का कोई व्यक्तिगत विशेष कारण भी यद्यपि होता ही होगा फिर भी सामाजिक कारणों का फल भी व्यक्ति को भोगना तो पड़ता ही है। शिथिल नीति अस्वच्छ रहन सहन पोषणहीन आहार इत्यादि सर्वसाधारण कारण तो काम करते ही हैं। इसलिए महारोग जैसे गूढ रोग के निवारण के कार्यक्रम में सर्व-सामान्य सामाजिक कारणों को दूर करने के कार्यक्रम का समावेश भी समझना चाहिए।

ईसाई धर्म की देन

यद्यपि यह रोग भारतवर्ष का अपना ही है, तथापि प्रकट है कि भारतीयों ने इसके निवारण के लिए कोई बहुत प्रयत्न नहीं किया है। ईसाई मिशनरियों ने इस विषय में निःसंदेह बड़ी लगन से काम किया है। बल्कि सेवा का उन्हीं

ने जो आदर्श उपस्थित किया है वह भारत को उनकी एक बहुत बड़ी देन है जिसका हमें अत्यंत कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए, और उसका अनुकरण भी करना चाहिए। 'भूत-दया' यह विशाल शब्द हमने दूध निराशा और जीव-हिंसा-निषेध तथा निर्मांस आहार के प्रयोग किये। परन्तु हम इस बात को एकदम भूल ही गये कि भूत-दया में मानव-सेवा है ही। भूत-दया शब्द बहुत व्यापक रहा। इस कारण अमरीका के कर्मयोगों का हमें ध्यान तक नहीं हुआ। इसके विपरीत ह्युमैनिटी अथवा मानव सेवा इस मर्यादित शब्द को पकड़ने के कारण उस शब्द का चिंतन करने वालों को स्वभावतः मानव-सेवा से प्रेम हो गया और निर्मांस आहार के प्रयोग उन्हें देर से सूझे। यह है शब्दों की महिमा। परन्तु आखिर शब्दों की शक्ति तो सर्वदा सीमित ही होती है। इसलिए शब्दों को बदलने की जरूरत नहीं। अपने अपने शब्दों को हम लिये रहें और उनके अर्थों में जो कमी रह गई है उसकी पूर्ति आचरण से कर दें

हमारी उपेक्षा-बुद्धि

अभितक हमारे कार्यकर्ताओं की अधिकांश शक्ति विदेशी सत्ता को हटाने में लगी रही। इसके लिए हमारे नेताओं ने अहिंसक साधनों से ही काम लेने का निश्चय किया। इस कारण देश में कुछ रचनात्मक कार्य भी हो गया। परन्तु कार्यकर्ताओं की दृष्टि राजनीतिक रहने के कारण यह सारे विधायक कार्य आधे दिल से ही किसी तरह हुये। इसके फलस्वरूप जैसा कुछ स्वराज्य मिला है उसकी हालत आज हम देख ही रहे हैं। यदि रचनात्मक कार्य पूर्ण श्रद्धा और एकाग्र चित्त से किया होता तो आज के स्वराज्य का तेज कुछ निराला ही होता। परन्तु जो कुछ हो गया उसके लिए किसी का दोष देने में कोई लाभ नहीं है। निषेधक आदर्श को सामने रखकर विधायक काम जैसा भी कुछ हो सकता था वैसा ही हुआ है। विधायक (रचनात्मक) कामों में भी उन्हीं पर कार्यकर्ताओं ने ज्यादा ध्यान दिया जिनकी मदद से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सरकार पर दबाव डालने की सम्भावना थी। ऐसी हालत में महारोगियों की सेवा जैसे केवल मानव-सेवा के और निरुपद्रवी काम की तरफ किसी का ध्यान कैसे जाता?

सेवा के लिए कमर कसें

परन्तु अब वह स्थिति नहीं रही। अब यहां से विदेशी सत्ता उठ गई है। निषेधक ध्येय से अब कोई लाभ होनेवाला नहीं है। अब तो स्वराज्य की इमारत ठेठ नीचे से लेकर ऊपर तक हमें खड़ी करनी है। अब हमें अपने स्वराज्य को रामराज्य अथवा ईश्वर का राज्य बनाना है। स्वराज्य का अर्थ यदि केवल इतना ही हो कि विदेशियों की सत्ता को हटाकर उसके स्थान पर यहीं के मुट्ठी भर आदमियों के हाथों में सत्ता चली जाय तो हमारा स्वराज्य रावण राज्य या शैतान का राज्य भी हो सकता है। अगर हम चाहते हैं कि ऐसा नहीं हो तो हम दीनजनों की दुखियों की उपेक्षितों की परित्यक्तों की और तिरस्कृतों की सेवा के लिए कमर कसें।

ध्यायवान कर्मवीरों की जरूरत

कुछ शिथिल विचार करनेवाले लोग कहते हैं 'अब तो हमारी अपनी सरकार कायम हो गई है। इसलिए इन सब कामों को वही देख लेगी। इसके जैसा मूर्खता का विचार शायद ही और कोई होगा। महारोगी-सेवा जैसा काम निष्काम सेवकों के प्रयत्न के बिना सरकार से कभी नहीं होगा। सरकार थोड़ी-बहुत मदद जरूर कर सकती है। वह उसे करनी भी चाहिए। परन्तु इस मदद को मैं इस काम में नगण्य मानता हूं। यह काम वास्तव में उन कर्मवीरों का है जिनके दिल जन-सेवा से भरे हुए हैं। ऐसे ध्यायवान कर्मवीरों को इस समय बड़े पैमाने पर आगे बढ़ना चाहिए। *यह काम यदि हमारा संमेलन कर सका तो मैं इसे सार्थक समझूंगा।* यदि ऐसे सेवक खड़े हो जायेंगे तो सरकार से भी मदद मिल जायगी और जनता की दान-वृत्ति का प्रवाह भी अनुकूल दिशा में बदला जा सकेगा।

सरकारी सहायता गौण

हमें यह भी सोचना चाहिए कि सरकार से हम क्या क्या अपेक्षा करें? उससे मैं अधिक आर्थिक मदद की अपेक्षा नहीं करूंगा। परन्तु हमारी सेवा सफल हो इसके लिए कुछ सामाजिक नियंत्रण या नियमन की

जरूरत होगी। मैं चाहता हूँ कि यह सहायता सरकार कर दे। यही धन की बात। इसकी अपेक्षा मैं समाज से करूँगा। हम लोगों में दान-वृत्ति की कमी नहीं है। परंतु अधिकांश यह मूढ़ है। दान का अर्थ यह न हो कि धन को कहीं भी किसी तरह फेंक दें। सत्कार्य में यदि उसका उपयोग होता है तभी वह सच्चा दान कहलाता है। इस बात का समझ लोगों मे पैदा हो जानी चाहिए।

भ्रम भी दूर किया जाय

परन्तु यह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। मुख्य बात तो यह है कि सेवक आगे आयें। महारोगी-सेवा के बारे में समाज में कुछ भ्रम फैले हुए हैं। वे दूर हो जाने चाहिए। लोगों में यह ख्याल गहरा फैला हुआ है कि महारोगी की सेवा करना अपने आपको एक बहुत बड़े खतरे में डाल देना है। इसमें विशेष सत्य नहीं है। इस बात को लोग समझ ले। थोड़ा बहुत खतरा जरूर है। परन्तु जो आदमी यह सोचता है कि वह किसी प्रकार का भी खतरा नहीं उठाएगा उसके हाथ से इस संसार में एक भी पुरुषार्थ का काम नहीं हो सकेगा। हर काम में कुछ खतरा उठाना ही पड़ता है। फिर भी शास्त्रीय पद्धति से सेवा करनेवाले को बहुत डरने की जरूरत नहीं। इस बात का प्रचार होना जरूरी है।

सेवक का रोग ईश्वरी प्रसाद

परन्तु कार्यकर्ता हर हालत में अपने आपको ईश्वर की शरण में सौंप दे। संपूर्ण आवश्यक सावधानी रखने पर भी यदि कहीं संसर्ग से वह रोग कभी हो गया तो उसकी चिंता न करते हुए उसे ईश्वर का प्रसाद समझ प्रेम की वृत्ति उसमें होनी चाहिए। ऐसी जिसकी मनस्थिति हो जाती है उस सेवक के लिए यह रोग भी लाभदायक बन सकता है। हमारे कुष्ठ-निवास के रोगियों के सामने बोलने का एक बार मुझे अवसर मिला तब मैंने उन्हें यह सांत्वना देने की हिम्मत की थी कि 'भाइयो यह रोग तो आपको हो ही गया है। प्रारब्ध को कोई टाल नहीं सकता। परन्तु यदि इसी को आप ईश्वर का प्रसाद समझ लेंगे तो यही आपका तारक हो सकता है।

ज्ञानी पुरुष हमें सिखाते हैं कि हम देह से भिन्न हैं। आत्म-स्वरूप हैं। इस बात का साक्षात्कार करने में यह रोग मददगार हो सकता है। इस दिशा में चिन्तन करके देखिए। मेरा भाषण सुननेवाले रोगियों में से एक ने कुछ दिन बाद मुझे कहलाया कि आपके कहने के अनुसार मैं चिन्तन करता हूं। और उससे मुझे सांत्वना भी मिली है। जो सांत्वना एक सामान्य रोगी को मिल सकती है वह एक निष्काम भावना से सेवा करनेवाले सेवक को रोग हो जानेपर क्यों नहीं मिलेगी ?

कुष्ठबस्ती का आदर्श

महारोगियों की सेवा दो प्रकार से की जाती है। एक तो स्थान स्थानपर उपचार-केंद्र खोलकर और दूसरे रोगियों के लिए अलग बस्तियां बनाकर। इन दो में से अधिक जरूरी क्या है इस चर्चा में मैं अभी नहीं पड़ना चाहता। परन्तु बस्तियों के संचालन के बारे में एक विचार जरूर सुझाना चाहता हूं। वह भी नवीन तो नहीं है। परन्तु वह जिस प्रकार सूझ रहा है मैं उसे आपके विचारार्थ संक्षेप में रख देता हूं। कुष्ठबस्ती में रहनेवालों को यह नहीं लगना चाहिए कि हम समाज की दया के भिखारी हैं। वे दया के पात्र तो हैं परन्तु हमारी नहीं ईश्वर की। और ईश्वर की दया के पात्र तो हम सभी हैं। हम में से जो लोग रोगियों की सेवा करेंगे उनमें यह ख्याल न हो कि हम किसी पर उपकार कर रहे हैं। और यदि ऐसा कोई विचार हो भी तो यह हो कि हम अपने ऊपर ही उपकार कर रहे हैं। इसके अलावा बस्ती का वातावरण ऐसा हो कि रोगियों को भी लगे कि उनमें भी कुछ पुरुषार्थ है। बस्ती के वातावरण में जितना भी संभव हो कर्मयोग स्वावलंबन का बल परस्पर सहकार्य जप और ज्ञान की प्रवृत्ति इत्यादि हों।

प्रार्थना

जो कुछ निवेदन करना था कर चुका। अब अंत में केवल यही प्रार्थना है कि गीता के शब्दों में मानव-रूप में प्रकट हुए परमात्मा का हमारे हाथों कभी अवमान न हो।

(सेवक वर्धा १९-१-४८)

आज हम गांधी जयंती के निमित्त एकत्र हुए हैं। गांधीजी ने पहले कई बार व अब भी कहा है कि इसे चरखा जयन्ती कहना चाहिए व उसी के अनुसार उत्सव किया जावे। परन्तु आज हिन्दुस्तान में ऐसी हवा बह रही है कि विचारों की अपेक्षा मनुष्य को अधिक महत्व दिया जाता है। यह विशेषता आज की है प्राचीनकाल की नहीं। हिन्दुस्तान के लोगों पर यह आरोप है कि उन्होंने अपना कुछ भी इतिहास नहीं लिख रखा। यह आरोप सत्य है। हमारे पूर्वजों ने भिन्न-भिन्न विषयों पर बहुत-से शास्त्रीय ग्रंथ लिख रखे हैं। परन्तु इतिहास पर कुछ भी नहीं लिखा। हमारे श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पुरुष कब हो गये इसका हमें पता नहीं। हम लोगों में कई उत्तम उत्तम ग्रंथकार हो चुके हैं परन्तु उनके ग्रंथों में उनका नाम तक नहीं है। आजकल तो प्रस्तावना में ही लेखक अपना परिचय दे देता है। पुराने लोग विचार-प्रधान थे। हम व्यक्ति-प्रधान बन गये हैं। व्यक्ति की पूजा होती रहती है, पर विचार पीछे रह जाते हैं। इसीलिए गांधीजी कहते हैं कि गांधी जयन्ती नहीं चरखा जयन्ती मानकर जो कुछ भी करना है करें।

गांधीजी ने ऐसा क्यों कहा? यों चरखा दिखने में एक छोटी सी चीज है। पर उसके पीछे विचार क्रान्तिकारी है। आज संसार में जो चल रहा है उसे बदलने की बात उसमें है। इसी को क्रान्ति कहते हैं। मैं चेतन हूं। युग अचेतन है। इसलिए अपने युग का निर्माण मैं करूंगा। मेरे आसपास का वातावरण मैं स्वयं निर्माण करूंगा। यह विचार चरखा हमें सिखलाता है। लोग मुझे पूछते हैं क्या आज की इस बीसवीं सदी में आपका चरखा टिकेगा? मैं उन्हें कहता हूं 'आजतक तो टिका आज एक अक्टूबर को चल रहा है। कल दो अक्टूबर को चलेगा और जब तक मैं चाहूंगा तब तक चलता रहेगा। लोग मुझे पूछते हैं "हमारे

---

* ग्राम-सेवक-विद्यालय मगनवाडी में दिया गया भाषण।

चाहोगे कि इस युग में आपकी कुताई पुनाई कैसे चल पायगी ? मैं कहता हूं खूब चलेगी। हवाईजहाज में बैठकर मैं शान से पुनाई करूंगा व चरखा चलाऊंगा। क्योंकि अपनी सृष्टि का मालिक मैं हूं। इसी को मनुष्यता कहते हैं। मैं ईश्वर की प्रतिमा हूं। उस मालिक का मैं पुत्र हूं। इस जड़ संसार को मैं अपना मालिक नहीं मानता। मेरे हाथों मह मिट्टी है। इससे मैं सोने का निर्माण करूंगा।

इतिहास में युग का नाम देने की प्रथा है। 'विक्टोरियन पीरियड' इत्यादि देखकर मुझे हंसी आती है। मैं कहता हूं 'यह मेरा पीरियड है, मेरा युग है। लोग कहते हैं दुनिया का मध्यबिन्दु इंग्लैण्ड है। मैं कहता हूं 'काम नदी के किनारे पर बसा हुआ पवनार उसका मध्य बिन्दु है। क्योंकि मैं जब अपने टीले पर खड़ा होकर देखता हूं तब चारों ओर की दुनिया मुझे दिखाई देती है। कुछ लोग इस विचारसरणी को 'यंत्र बनाम चरखा' समझते हैं। परन्तु मेरे विचार से यह 'यंत्र बनाम चैतन्य' है। दैववादी और पंगु लोगों के जड़िवाद के यानि जड़वाद के विरुद्ध यह चैतन्यवाद है। मैं जड़वादी नहीं हू। यंत्र जड़ वस्तु है। जिन यंत्रों की आवश्यकता मैं महसूस करूंगा उन्हें रखूंगा। जो अनावश्यक है उन्हें नहीं रखूंगा। बेचारे यंत्र स्वयं कुछ भी नहीं कर सकते। मैं उन्हें चलानेवाला हूं। हिन्दुस्तान में ४ करोड़ लोग रहते हैं। इतना विशाल देश अपना वातावरण खुद नहीं बनायेगा तो दूसरा कौन बनायेगा ? मंगल के आसपास मंगल का व बुध के आसपास बुध का वातावरण रहता है। फिर हमारे आसपास हमारा वातावरण क्यों न रहे ?

हम इतिहास को देखते हैं तो पता चलता है कि इतिहास की एक मांग है। और उसे पूरी करने के लिए कोई पुरुष पैदा होता है। उसी को हम युगपुरुष कहते हैं। भारत के इतिहास की और आज तो सारे संसार की मांग यह है कि चरखा जिस संस्कृति का प्रतीक है वह संस्कृति हमें चाहिए।

अंग्रेजों के अधीन जब भारत हुआ तब जो बात किसी भी देश में नहीं हुई वह इस विशाल देश में हो गई। क्या हुआ ? इतने बड़े राष्ट्र

के हाथों से सारे हथियार छीन लिये गये। यह बात पुराने जमाने में किसी को भी नहीं सूझी थी। यही नहीं उन्हें तो लगता था कि लोगों को इस प्रकार निःशस्त्र कर देना खतरनाक भी है। परन्तु अंग्रेजों को लगा कि यदि यहां राज करना है तो जनता के हथियार छीन लेने चाहिए। शस्त्रों के छीनते ही देश में एक बात की आवश्यकता उत्पन्न हो गई। भारत के लोगों ने सोचा कि या तो अनंत काल तक गुलाम बनकर पड़े रहना है या किसी ऐसी शक्ति का आविष्कार करना चाहिए जो निःशस्त्रीकरण का मुकाबला कर सके। यह आवश्यकता भारत में पैदा हो गई। इसलिए यहां एक ऐसा युगपुरुष हुआ कि जिसने इस देश को एक नया दर्शन दिया। दर्शन यह कि हिंसक शस्त्रों के बगैर भी अन्याय का प्रतिकार किया जा सकता है।

यह तो एक संयोग की बात है कि वह पुरुष गांधी हुआ। गांधी नहीं होता तो और कोई आता। क्योंकि वह इस युग की मांग थी। इसके सारे लोग हमेशा तो गुलाम रह नहीं सकते थे। इस समय मुझे गीता का वचन याद आ रहा है। भगवान ने अर्जुन से कहा था कि मैं तो इन्हें कभी का मार चुका हूं। तू तो केवल निमित्त बन जा। गांधी भी इस प्रकार केवल निमित्त हैं। वह एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी।

इसलिए उत्तम बात तो यह है कि हम गांधी को भूल जायें। उनके विचार समझ लें। व्यक्ति की पूजा करते रहेंगे तो उनके विचारों को हम भूल जायेंगे। एक सज्जन ने गांधी जयन्ती के दिन व्याख्यान देने के लिए मुझे निमन्त्रण भेजा। उस में लिखा था कि हम ७८ बैलों की गाड़ी में गांधीजी के चित्र का जुलूस भी निकालने वाले हैं। इस प्रकार यदि ७८ का नियम शुरू हो जायगा तो हम विचार को भूल जायेंगे। ७८ के बाद ७९ और ७९ के बाद ८० आयेगा। इस प्रकार शरीर का विचार ही प्रधान बनकर बैठ जायगा। आत्मा के ७८ वर्ष नहीं होते। वे तो शरीर के ही होते हैं। इसलिए फिर केवल शारीरिक दृष्टि ही रह जायगी।

गांधी ने हमें बतला दिया। इस बतलाने का अर्थ यह है कि निःशस्त्र जनता प्रतिकार के लिए खड़ी हो रही है। हमारी भांति दूसरे लोग भी

संसार में निःशस्त्र किये जा रहे हैं। अब केवल चार राष्ट्रों के हाथों में शस्त्र रहनेवाले हैं। शेष सारे राष्ट्र निःशस्त्र ही हो जायेंगे। इसी को ये लोग नवरचना अथवा न्यू ऑर्डर कहते हैं। पुरानी रचना जा रही है और उसके स्थान पर नई रचना आ रही है। परन्तु यह पुरानी व्यवस्था के सारे दोष अपने साथ दायभाग में लेकर आई है। इसलिए जो सवाल तब हमारे सामने था वही आज सारे संसार के सामने है। चरखा कहता है कि इन सब के बीच में मार्ग ढूंढनेवाली एक चीज संसार में है। चरखा चलाते चलाते हमारे दिल में यह चिन्तन चलना चाहिए कि संसार की बड़ी से बड़ी ताकत का मुकाबला करनेवाली एक शक्ति हमारे पास है जिसके बल पर एक छोटे से छोटा बच्चा भी उस बड़ी शक्ति का प्रतिकार कर सकता है। और चूं कि संसार को आज इस विचार की जरूरत है तो इसका प्रत्यक्ष प्रयोग भारत नहीं तो दूसरा कौन-सा देश करेगा ?

लोग कहते हैं कि इस युग में रोज नये नये शस्त्रों का आविष्कार हो रहा है और अब तो ऐटम बम भी निकल चुका है। मैं उनसे कहता हूं आपके पास ऐटम बम है तो मेरे पास 'आत्म बम' है। परन्तु ऐटम बम के लिए जितना परिश्रम करना पड़ा था उससे अधिक परिश्रम आत्म बम के लिए करना होगा। हमें जनता को ऐसी शिक्षा देनी है कि हममें से एक व्यक्ति भी इस ऐटम बम का मुकाबला कर सके।

गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम इसीलिए है। लोग कहते हैं कि क्रान्ति से रचनात्मक कार्य का क्या सम्बन्ध है ? मैं कहता हूं कि क्रान्ति का अर्थ नवरचना ही तो है न ? रचनात्मक कार्यक्रम भी नवरचना का ही तो कार्यक्रम है। आज संसार की जो स्थिति है उसे बदलकर हमें नई व्यवस्था कायम करनी है। वे दूसरों को गुलाम बनाकर जीना चाहते हैं। और हम दूसरों को आज़ाद बनाकर जीना चाहते हैं। वे दूसरों के श्रम का अन्न खाते हैं। हम अपने श्रम का अन्न खाना चाहते हैं। यदि ऐसा नहीं होगा तो हम भी उनके जैसे शोषक लूटकर खानेवाले बन जायेंगे। मैं रोज सूरगांव जाता हूं। एक दिन एक सज्जन के घर गया।

तो वहां देखा कि पिंजड़े में एक तोता है। उसी दिन दिल्ली में जवाहरलालजी का राज शुरू हो रहा था। मैंने कहा "दिल्ली में जवाहरलालजी का राज शुरू हो गया है। आप भी अपने कर्तव्य का पालन करेंगे या नहीं। उन्होंने पूछा— बताइए क्या कर्तव्य है? तब मैंने उस तोते को मुक्त करने की बात कही। अंत में वह तोता छोड़ दिया गया। यह घटना कम महत्त्व की नहीं है। क्योंकि यदि हम अपने लिए स्वतंत्रता चाहते हैं तो वह हमें दूसरों को भी देनी चाहिए।

और आज संसार में जिस बड़े पैमाने पर हिंसा की तैयारी हो रही है उसे देखकर मुझे तो निश्चय हो गया है कि हिंसा का यह राक्षस मरकर ही रहेगा। पहले छोटी छोटी लड़ाइयां होती थीं। संभव है उन लड़ाइयों से कुछ लाभ होता होगा। परन्तु अब तो टोटल वॉर होता है। टोटल वॉर यानी क्या? टोटल वॉर का अर्थ यह कि वहां की सारी स्त्रियों का यहां की सारी स्त्रियों से विरोध वहां के सारे पशुओं का यहां के सारे पशुओं के साथ विरोध यहां के सब पेड़ों का वहां के सारे पेड़ों से विरोध और यहां की सारी जनता का वहां की सारी जनता से विरोध। और हम सब मिलकर उनकी सब वस्तुओं का नाश करें। इस टोटल वॉर में सिविल अर्थात् नागरिक जैसी कोई चीज ही नहीं रह जाती। सब कुछ सैनिक है। साइन्स अर्थात् विज्ञान अब इतना बढ़ गया है कि हिंसा का राक्षस खुद ही अपनी मौत मरवानेवाला है और निश्चय अहिंसा अपने पास बढ़नेवाली है। इसलिए जब बड़े पैमाने पर हिंसा की तैयारी होती है तो मुझे भय नहीं होता। क्योंकि मैं देखता हूं कि अब हिंसा के जाने का और मेरे प्रवेश का समय आ रहा है। बुझने से पहले दिया बड़ा होता ही है। इसलिए संसार से अन्तिम विदा लेने के पहले की प्रचण्ड तैयारी हिंसा कर रही है। अब अहिंसा का ही उदय होनेवाला है।

बीस बरस से मैंने कुछ किया है तो सार्वजनिक काम ही किया है। जब विद्यार्थी-अवस्था में था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवा की ही थी। यों कह सकते हैं कि जीवन में मैंने सिवा सार्वजनिक सेवा के न कुछ किया है, न करने की इच्छा ही है। पर मेरा आशय है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और लोगों ने की है वैसी मैंने नहीं की। सवेरे एक भाई ने मुझसे पूछा 'आप कांग्रेस में नहीं आयंगे क्या?' मैंने कहा कि मैं तो कांग्रेस में कभी नहीं गया। सेवा की मेरी पद्धति और प्रवृत्ति कांग्रेस में जाना और वहां बहस करना नहीं रही है। इसका महत्त्व मैं जानता हूं सही पर वह मेरेलिए नहीं है। मैं कांग्रेस की प्रवृत्तियों से अनभिज्ञ नहीं हूं। विचार करनेवाले भाई तो बहुत हैं। मैं तो उन लोगों में हूं जो मूक सेवा करना चाहते हैं। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नहीं हो सकी जितनी कि मैं चाहता हूं। मेरी सेवा का उद्देश भक्ति-भाव है। भक्ति-भाव से ही मैं सेवा करता हूं और बीस साल से प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हूं। प्रचार अभी तक न किया है और न आगे करने की संभावना ही है।

मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है 'सेवा व्यक्ति की भक्ति समाज की।' व्यक्ति की भक्ति में आसक्ति बढ़ती है इसलिए भक्ति समाज की करनी चाहिए। सेवा समाज की करना चाहें तो कुछ भी नहीं कर सकते। समाज तो एक कल्पनामात्र है। कल्पना की हम सेवा नहीं कर सकते। माता की सेवा करनेवाला लड़का दुनियाभर की सेवा करता है यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तु की ही हो सकती है अप्रत्यक्ष वस्तु की नहीं। समाज अप्रत्यक्ष अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है जो परमात्मा तक पहुंचे। आज कल सेवा की कुछ अनोखी-सी पद्धति देखने में आती है। सेवा के लिए हम विशाल क्षेत्र चाहते हैं। पर अगर असली सेवा करनी है, सेवामय बन जाना है अपनेको सेवा में खपा देना है तो किसी देहात में चले जाइए। मुझसे एक भाई ने कहा कि 'बुद्धिशाली लोगों से आप कहते हैं कि देहात में चले जाइए। विशाल बुद्धि के विस्तार के लिए उतना लंबा-चौड़ा क्षेत्र वहां कहां

है? मैंने कहा कि 'ऊंचाई तो है अनंत आकाश तो है? वह लंबा सफर नहीं कर सकता पर ऊंचा सफर तो कर सकता है गहरा तो जा सकता है? संत इतने ऊंचे चढ़ते थे कि उसका कोई हिसाब नहीं मिलता। कोई बड़े-से-बड़ा विज्ञानवेत्ता भी आकाश की ऊंचाई मालूम नहीं कर सकता। देहात में हम लंबा-चौड़ा नहीं पर ऊंचा सफर कर सकते हैं। यहां ऊंचे-से-ऊंचे चढ़ने का अवसर है। ऊंची या गहरी सेवा यहां खूब हो सकती है। हमारी यह एकाग्र सेवा प्रसन्न योगी की सेवा हो जायगी और फल-दायक भी होगी।

राष्ट्र के सारे प्रश्न देहात के व्यवहार में आ जाते हैं। जितना समाजशास्त्र राष्ट्र में है उतना एक कुटुंब में भी आ जाता है देहात में तो है ही। समाज-शास्त्र के अध्ययन के लिए गांव में काफी गुंजाइश है। मैं तो इस विश्वास को बुद्धि का अभाव ही मानूंगा कि प्रौढ़ विवाह प्रचलित होने से भारतवर्ष सुधर गया और बाल-विवाह से बिगड़ गया था। प्रौढ़-विवाह में भी अक्सर वैवाहिक आनंद देखने में नहीं आता और बाल-विवाह के भी ऐसे उदाहरण देखे गये हैं जिनमें पति-पत्नी सुख-शांति से रहते हैं। विवाह-संस्था में संयम की पवित्र भावना कैसे आये यह मसला हमने हल कर लिया तो सबकुछ कर लिया। विवाह का उद्देश्य ही यह है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान की राजनीति का नमूना भी देहात में पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहात की भी जनता को हमने आत्म-निर्भर कर दिया तो बहुत बड़ा काम कर दिया। यहां के अर्थशास्त्र को कुछ व्यवस्थित कर दिया तो बहुत-कुछ हो गया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनों के बीच में रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायंगे। हां वहां जाकर हमें उनके साथ दरिद्र-नारायण बनना है पर 'सेवकपूज-नारायण' नहीं। अपनी बुद्धि का उनके लिए उपयोग करना है निरहंकार बनना है। हम यह न समझें कि वे सब निरे बेवकूफ ही होते हैं। भारत के देहातों का अनुभव और वेदों की तरह ग्रंथ ऋषियों का नहीं कम-से-कम बीस हजार वर्ष का है। यहां जो अनुभव है उससे हमें लाभ उठाना है। ज्ञान-भंडार की तरह द्रव्य-भंडार भी यहीं से पैदा करना है और पूरी तरह से निरहंकार बनकर उसमें प्रवेश करना है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिंदू समझते हैं कि ये सुधारक तो मौत को बिगाड रहे हैं सवर्णों के साथ हमारा उतना संबंध नहीं जितना कि हरिजनों के साथ है। सवर्णों को अपनी प्रवृत्ति की ओर खींचने और उनकी शंका दूर करने के विषय में सोचा क्या गया है ?

अस्पृश्यता-निवारण का काम हमें दो प्रकार से करना है। एक तो हरिजनों की आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्ति में सुधार करके और दूसरे हिंदू-धर्म की शुद्धि करके अर्थात् उसको उसके असली रूप में लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन हैं यह हम न मानें। वे अज्ञान में हैं ऐसा मान सकते हैं। वे दुर्जन या दुष्ट-बुद्धि नहीं हैं यह तो उनके विचारों की संकीर्णता है। प्लेटो ने कहा था कि 'सिवा ग्रीक लोगों के भरे ग्रंथों का अध्ययन और कोई न करे। इसका यह अर्थ हुआ कि ग्रीक ही सर्व श्रेष्ठ हैं। मनुष्य की आत्मा व्यापक है, पर अव्यापकता उसमें रह ही जाती है। आखिर मनुष्य की आत्मा एक देह के अंदर बसी हुई है। इसलिए सनातनियों के प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हमें उनका विरोध नहीं करना चाहिए। हम तो वहां बैठकर चुपचाप सेवा करें। हरिजनों के साथ-साथ जहां अवसर मिले सवर्णों की भी सेवा करें। एक भाई हरिजनों का स्पर्श नहीं करता पर वह दयालु है। हम उसके पास जायें उसकी दयालुता का लाभ उठायें उसकी मर्यादा को समझकर उससे बात करें। थोड़े दिन में उसका हृदय धुल हो जायगा उसके अंदर का अंधकार दूर हो जायगा। सूर्य की तरह हमारी सेवा का प्रकाश स्वतः पहुंच जायगा। हमारे प्रकाश में हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अंधकार की लड़ाई तो एक क्षण में ही खत्म हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसा का हो प्रेम का हो। मेरी मर्यादा यह है कि मैं दरवाजा धकेल कर अंदर नहीं चला जाऊंगा। मैं तो सूर्य की किरणों का अनुकरण करूंगा। दीवार में छप्पर में या किवाड़ में कहीं जरा-सा भी छिद्र होता है तो किरणें चुपचाप अंदर चली जाती हैं। यही दृष्टि हमें रखनी चाहिए। हममें जो विचार है वह प्रकाश है यह मानना चाहिए। किसी गुफा का एक लाख वर्ष का भी अंधकार एक क्षण में ही प्रकाश से दूर हो जायगा। लेकिन

यह होगा अहिंसा के ही तरीके से। सनातनियों को माफियां देना तो अहिंसा का तरीका नहीं है। हमें मुंह से खूब तौल-तौलकर शब्द निकालने चाहिए। हमारी वाणी की कटुता यदि चली गई तो उनका हृदय पलट जायगा। ऐसी लड़ाई आज की नहीं बहुत पुरानी है। संतों का जीवन अपने विरोधियों के साथ झगड़ने में ही बीता। पर उनके झगड़ने का तरीका प्रेम का था। जिस भगवान ने हमें बुद्धि दी है उसीने हमारे प्रतिपक्षियों को भी दी है। आज से पंद्रह-बीस वर्ष पहले हम भी तो उन्हीं की तरह अस्पृश्यता मानते थे। हमारे संतों ने तो आत्मविश्वास के साथ काम किया है। वाद-विवाद में पड़ना हमारा काम नहीं। हम तो सेवा करते-करते ही खत्म हो जायें। हमारे प्रचार-कार्य का सेवा ही विशेष साधन है। दूसरों के दोष बताने और अपने गुण सामने रखने का मोह हमें छोड़ देना चाहिए। मां अपने बच्चे के दोष थोड़े ही बताती है। वह तो उसके ऊपर प्रेम की वर्षा करती है। उसके बाद फिर वही दोष बन जाती है। अगर ऐसी ही प्रेममयी सेवा का होना है।

ग्राम-सेवा और ग्राम धर्म ४१

जब हम सेवा करने का उद्देश्य लेकर देहात में जाते हैं तब हमें यह नहीं सूझता कि कार्य का आरंभ किस प्रकार करना चाहिए। हम शहरों में रहने के आदी होगए हैं। देहात की सेवा करने की इच्छा ही हमारा मूलधन —हमारी पूंजी होती है। अब सवाल यह खड़ा हो जाता है कि इतनी थोड़ी पूंजी से व्यापार किस तरह शुरू करें। मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहात में जाकर व्यक्तियों की सेवा करने की तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए। सारे समाज के समीप एकदम पहुंचना सम्भव नहीं है। रणभूमि में लड़नेवाले सिपाही से अगर हम पूछें कि तू किसके साथ लड़ता है तो वह कहेगा शत्रु के साथ। लेकिन लड़ते समय वह अपना निशाना किसी एक ही व्यक्ति पर लगाता है। ठीक इसी प्रकार हमें भी सेवा-कार्य करना होगा। समाज अव्यक्त है, परन्तु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है। उसकी

सेवा हम कर सकते हैं । प्रोफेसर सारे क्लास को पढ़ाता है पर हरएक विद्यार्थी का वह ध्यान नहीं रखता । ऐसी सेवा से काम कम होता है । कुछ चुने हुए विद्यार्थियों पर गुरु अपना ध्यान देगा तभी वास्तविक काम हो सकेगा । हां इतना ख्याल हमें जरूर रखना होगा कि व्यक्तियों की सेवा करने में अन्य व्यक्तियों की हानि न हो । देहात में जाकर इस तरह अगर कोई कार्यकर्ता सिर्फ पच्चीस व्यक्तियों की ही सेवा कर सका तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया । ग्रामजीवन में प्रवेश करने का यही सुलभ तथा सफल मार्ग है । मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि जिन्होंने मेरी व्यक्तिगत सेवा की है, उन्होंने मेरे जीवन पर अधिक प्रभाव डाला है। व्यक्तियों की सेवा में समाज-सेवा का निषेध नहीं है । समाज गीता की भाषा में अनिर्देश्य है निर्गुण है और व्यक्ति सगुण और साकार अत व्यक्ति की सेवा करना आसान है । लेकिन भक्ति तो समाज की करनी चाहिए ।

दूसरी और एक सूचना मैं करना चाहता हूं । हमें देहातियों के सामने ग्रामसेवा की कल्पना रखनी चाहिए न कि राष्ट्र धर्म की । उनके सामने राष्ट्र धर्म की बातें करने से लाभ न होगा । ग्राम-धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है, उतना राष्ट्र धर्म नहीं । इसलिए हमें उनके सामने ग्राम धर्म ही रखना चाहिए । इसमें भी वही बात है जो व्यक्ति-सेवा के विषय में मैंने ऊपर कही है । ग्राम-धर्म सगुण साकार और प्रत्यक्ष होता है राष्ट्र-धर्म निर्गुण निराकार और परोक्ष होता है । बच्चे के लिए स्नान करना मां को सिखाना नहीं पड़ता । आपस के झगड़े मिटाना गांव की सफाई तथा स्वास्थ्य का ध्यान रखना आयात-निर्यात की वस्तुओं और ग्राम के पुराने उद्योगों की जांच करना नए उद्योग खोज निकालना इत्यादि गांवों के जीवन-व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाली हरएक बात ग्राम धर्म में आ जाती है । पुरानी पंचायत पद्धति नष्ट हो जाने से देहात की बड़ी हानि हुई है । झगड़े निपटाने में पंचायत का बहुत उपयोग होता था । अभी इस असेंबली के चुनाव से हमें यह अनुभव हुआ है कि देहातियों को राष्ट्र धर्म समझाना कितना कठिन है । सरदार वल्लभभाई और पं मालवीयजी के बीच मतभेद हो गया अब इसमें बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे ?

उसके मन में दोनों ही नेता समान रूप से पूज्य हैं। वह किसे माने और किसे छोड़े? इसलिए ग्राम-सेवा में हमें ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखना चाहिए। वैदिक ऋषियों की भांति हमारी भी प्रार्थना यही होनी चाहिए कि 'ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्' —हमारे गांव में बीमारी न हो।

तीसरी बात जो मैं कहना चाहता हूं वह है सेवक के रहन-सहन के संबंध की। सेवक की आवश्यकताएं देहातियों से कुछ अधिक होने पर भी वह ग्राम-सेवा कर सकता है। लेकिन उसकी वे आवश्यकताएं *विजातीय नहीं सजातीय* होनी चाहिए। किसी सेवक को दूध की आवश्यकता है, दूध के बिना उसका काम नहीं चल सकता और देहातियों को तो घी-दूध आजकल नसीब नहीं होता तो भी देहात में रहकर वह दूध ले सकता है क्योंकि दूध सजातीय अर्थात् देहात में पैदा होनेवाली चीज है। किन्तु सुगन्धित साबुन देहात में पैदा होनेवाली चीज नहीं है इसलिए साबुन को विजातीय *आवश्यकता समझना चाहिए और सेवक को उसका उपयोग नहीं करना* चाहिए। कपड़े साफ रखने की बात लीजिए। देहाती लोग अपने कपड़े मैले रखते हैं लेकिन सेवक को तो उन्हें कपड़े साफ रखने के लिए समझाना चाहिए। इसके लिए बाहर से साबुन मंगाना और उसका प्रचार करना मैं ठीक नहीं समझता। देहात में कपड़े साफ रखने के लिए जो साधन उपलब्ध हैं या हो सकते हैं उन्हींका उपयोग करके कपड़े साफ रखना और लोगों को उसके विषय में समझाना सेवक का धर्म हो जाता है। देहात में उत्पन्न होनेवाले साधनों से ही जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए। सजातीय वस्तु का उपयोग करने में सेवक को विवेक और संयम की आवश्यकता तो रहती ही है। अखबार का शौक देहात में पूरा न हो सकेगा।

मैं जो खास बातें यहां कहना चाहता था वे तो मैंने कह दीं। अब दो तीन और बातें कहकर अपना वक्तव्य समाप्त करूंगा। खादी-प्रचार के काम में अभी तक चरखे का ही उपयोग हुआ है। एक हाथ के इस्तेमाल करने की अभी खोज हो रही है। मैं उसे एक हाथ का चरखा कहता हूं। लेकिन मेरे पास तो एक नया हाथ का चरखा है और वह है

तकली। मैं सचमुच ही उसे सदा काल का चरखा मानता हूं। खादी उत्पत्ति के लिए चरखा उत्तम है लेकिन सार्वजनिक वस्त्रस्वावलम्बन के लिए तकली ही उपयुक्त है। नदी का पाट चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो वह वर्षा का काम नहीं दे सकता। नदी का उपयोग तो नदी के तट पर रहनेवाले ही कर सकते हैं। पर वर्षा सबके लिए है। तकली वर्षा के समान है। जहां कहीं वह चलेगी वहां वस्त्रस्वावलम्बन का कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे बिहार के एक भाई कहते थे कि वहां मजदूरी के लिए भी तकली का उपयोग हो रहा है। तकली पर कातनेवालों को वहां रुपये में तीन चार पैसे मिल जाते हैं। लेकिन उनके कातने की जो गति है वह तीन या चार गुनी तक बढ़ सकती है। गति बढ़ाने से मजदूरी भी तीन या चार या पांच गुनी तक मिल सकेगी। यह कोई मामूली बात नहीं है। हमारे देश में एक व्यक्ति को १४१ गज कपड़ा चाहिए। इसके लिए प्रति दिन सिर्फ एक सौ तार कातने की जरूरत है वह काम तकली पर आध घंटे में हो सकता है। चरखा कियदता भी रहता है पर तकली तो हमेशा ही आपकी सेवा में हाजिर रहती है। इसलिए मैं उसे सदा काल का चरखा मानता हूं।

देहात में सफाई का काम करनेवाले सेवक कहते हैं कि कई दिन तक यह काम करते रहने पर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह शिकायत ठीक नहीं। स्वधर्म समझकर ही अगर हम यह काम करेंगे तो अकेले रह जाने पर उसका दुख हमें न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न? यह मेरा काम है दूसरे करें या न करें, मुझे तो अपना काम करना ही चाहिए—यह समझकर जो सेवक कार्यारम्भ करेगा उसको सिंहावलोकन करने की यानी यह देखने की कि मेरे पीछे मदद के लिए कोई और है या नहीं आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई-संबंधी सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तियों की अपेक्षा समाज की ही अधिकतया होगी और होनी चाहिए। परन्तु सेवक की दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते इसलिए उसे पूरा करना उसका कर्तव्य हो जाता है। उसमें सेवक का स्वार्थ भी है, क्योंकि ग्राम की गन्दगी का असर उसके स्वास्थ्य पर भी अवश्य पड़ता है।

औषधि-वितरण में एक बात का हमेशा खयाल रखना चाहिए कि हम अपने कार्य से देहातियों को पंगु तो नहीं बना रहे हैं ? उनको तो स्वावलम्बी बनाना है । उनको स्वाभाविक तथा संयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए । रोग की दवाइयां देने की अपेक्षा हमें ऐसा यत्न करना चाहिए कि रोग होने ही न पावें । यह काम देहातियों को अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखाने से ही हो सकता है ।

श्रमजीविका ४२

'ब्रेड लेबर' के मानी हैं 'रोटी के लिए मजदूरी' यह शब्द आपमें से कई लोगों ने नया ही सुना होगा । लेकिन यह नया नहीं है । टॉल्सटाय ने इस शब्द का उपयोग किया है । उसने भी यह शब्द दूसरे एक लेखक के निबंध से लिया और अपनी सशक्त लेखन-शैली द्वारा उसको दुनिया के सामने रख दिया । मैंने यह विषय जान-बूझकर चुना है । शिक्षण-शास्त्र का अभ्यास करते हुए भी संभव है कि इस विषय का आपने कभी विचार न किया हो । इसलिए इसी विषय पर बोलने का मैंने निश्चय किया । इस विषय पर विचार ही नहीं बल्कि तदनुसार आचार करने की कोशिश भी मैं बीस साल से करता आ रहा हूं क्योंकि जीवन में और साथ-साथ शिक्षण में भी मैं शरीर-श्रम को प्रधान स्थान देता हूं ।

हम जानते हैं कि हिंदुस्तान की आबादी पैंतीस करोड़ है और चीन की चालीस पैंतालीस करोड़ । ये दोनों राष्ट्र प्राचीन हैं । इन दोनों को मिला दिया जाय तो कुल आबादी अस्सी करोड़ तक हो जाती है । इतनी जन-संख्या दुनिया का सबसे बड़ा और महत्व का हिस्सा हो जाता है । और यह भी हम जानते हैं कि यही दोनों देश आज दुनिया में सबसे ज्यादा दुःखी पीड़ित और दीन हैं । इसका कारण यह है कि इन दोनों मुल्कों ने कृषि का जो आदर्श अपने सामने रखा था उसका अनुसरण नहीं किया ।

मेरा मतलब यह कहने से है कि हिन्दुस्तान में शरीर-श्रम को जीवन में प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चय किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकार का हो कातने का हो बढ़ई का हो रसोई बनाने का हो सबका मूल्य एक ही है। भगवद्गीता में यह बात साफ शब्दों में लिखी है। किसीको चाहे जितना छोटा या बड़ा काम मिला हो पर अगर उसने उस काम को अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्ति को मोक्ष समान मिल जाता है। अब इससे अधिक कुछ कहना बाकी नहीं रह जाता। मतलब यह है कि हरएक उपयुक्त परिश्रम का नैतिक सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है। इस प्रतिष्ठित धर्म का आचरण तो हमने किया नहीं पर एक बड़ा भारी शूद्रवर्ग का निर्माण कर दिया। शूद्रवर्ग यानी मजदूरी करनेवाला वर्ग। यहां जितना बड़ा शूद्रवर्ग है उतना बड़ा शायद ही किसी दूसरी जगह हो। हमने उससे अधिक-से-अधिक मजदूरी करवाई और उसको कम-से-कम खाने को दिया। उसका सामाजिक दर्जा ही नहीं दिया। उसे कुछ भी शिक्षा नहीं दी। इतना ही नहीं उसे अछूत भी बना दिया। नतीजा यह हुआ कि कारीगरवर्ग में ज्ञान का पूरा अभाव हो गया। वह पशु के समान केवल जड़ मजदूरी ही करता रहा।

प्राचीन काल में हमारे यहां कला कम नहीं थी। अपनी प्राचीन कला को देखकर हमें आश्चर्य होता है। लेकिन ऐसा आश्चर्य अपना नहीं सबसे बड़ा आश्चर्य है। आश्चर्य करने का प्रसंग हमारे पर क्यों आना चाहिये? उन्हीं पूर्वजों की तो हम सन्तान हैं न? तब तो उनसे बढ़ कर हमारी कला होनी चाहिए। लेकिन आज आश्चर्य करने के सिवा हमारे हाथ में और कुछ नहीं रहा। यह कैसे हुआ? कारीगरों में ज्ञान का अभाव और हम में परिश्रम प्रतिष्ठा का अभाव ही इसका कारण है।

मूल योजना में ब्राह्मण और शूद्र की समान प्रतिष्ठा थी। जो ब्राह्मण था वह विचार प्रवर्तक तत्त्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था। जो किसान था वह ईमानदारी से अपनी मजदूरी करता था। प्रातःकाल उठकर भगवान का स्मरण करके सूर्यनारायण के उदय के साथ खेत में काम करने लग जाता था और सायंकाल सूर्य भगवान जब अपनी किरणों का समेट

आज ही सुबह बातें हो रही थीं। किसीने कहा 'अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते हैं', तो दूसरे ने कहा 'लेकिन जबतक उनकी धोती सफेद है तबतक वे पूरे किसान नहीं हैं।' इस कथन में एक दंभ था। मैली और स्वच्छ धोती की अदावत है, इस धारणा में दंभ है। जो अपनेको ऊपर की श्रेणीवाले समझते हैं, उनको यह अभिमान होता है कि हम बड़े साफ रहते हैं, हमारे कपड़े बिल्कुल सफेद होते हैं। उनका यह सफाई का अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीर की डाक्टरी जाँच—मैं मानसिक जाँच की तो बात छोड़ देता हूँ—की जाय और परिश्रम करनेवाले मजदूरों के शरीर की भी जाँच की जाय और दोनों परीक्षाओं की रिपोर्ट डाक्टर पेश करें और कह दें कि कौन ज्यादा साफ है। हम धोटा मकते हैं तो बाहर से। उसमें अपना मुँह देख लीजिए। लेकिन अन्दर से हमें झाँकने की जरूरत ही नहीं जान पड़ती। हमारे लिए अन्दर की कीमत ही नहीं होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमें शंका होती है कि खेत की मिट्टी में काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है। लेकिन मिट्टी में या खेत में काम करनेवाले किसान के कपड़े पर जो मिट्टी का रंग लगता है वह मैल नहीं है। सफेद कमीज के बदले किसीने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रंगीन कपड़ा समझते हैं। वैसे ही मिट्टी का भी एक प्रकार का रंग होता है। रंग और मैल में फर्क है। मैल में जंतु होते हैं, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगंध' होती है। गीता में लिखा है 'पुण्योगंधः पृथिव्यां च'। मिट्टी ही का शरीर है और मिट्टी में मिलनेवाला है। उसी मिट्टी का रंग किसान के कपड़े पर है, तब वह मैला कैसे? लेकिन हमको तो बिल्कुल सफेद, बगला जितना सफेद होता है उससे भी बढ़कर सफेद, कपड़े पहनने की आदत पड़ गई है। मानो 'व्हाइट वॉश' ही किया है। उसे हम साफ कहते हैं। हमारी भाषा ही विकृत हो गई है।

अपनी उच्चारण-पद्धति पर भी हमें ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते हैं उसे हम अपढ़ कहते हैं। लेकिन पाणिनि तो कहते हैं कि लोग जो प्रयोग करते हैं वही व्याकरण है। तुलसीदास ने रामायण आम लोगों के लिए लिखी है। वह जानते थे कि

देहाती लोग 'ष' 'स' और 'श' के उच्चारण में फर्क नहीं करते। आम लोगों की जबान में लिखने के लिए उन्होंने रामायण में सब जगह 'स' ही लिखा। वह अमर हो गये। उनको तो आम लोगों को रामायण सिखानी थी। इसलिए उच्चारण भी उन्हींका होना चाहिए। लेकिन आज के पढ़े लिखे लोगों ने तो मजदूरों को बदनाम करने का निश्चय कर लिया है।

हमारे में जप संध्या पूजा-पाठ को ही धर्म माना जाता है। लेकिन क्या अन्य परिश्रम में हमारी श्रद्धा नहीं होती। जो क्रिया बेकार, और अनुत्पादक उन्हींको हम धर्म मानते हैं। वेद कहता है "विश्व की उत्पत्ति करनेवाले को कुछ कृति अर्पण करो। उसने सृष्टि का रास्ता दिखाया उसका अनुसरण करो।" लेकिन हमारी साधुत्व की कल्पना इससे उल्टी है। एक ज्ञानी खेत में जोतने का काम कर रहा है या हल चला रहा है ऐसा चित्र अगर किसीने निकाला तो वह चित्रकार पागल समझा जायगा। "क्या ज्ञानी भी मजदूर के जैसा काम कर सकता है?" यह सवाल हमारे यहां उठ सकता है। "क्या ज्ञानी खा भी सकता है?" यह सवाल नहीं उठता।

हिंदुस्तान की संस्कृति इस हद तक गिर गई, इसी कारण से बाहर के लोगों ने इन आलसी लोगों को हटाकर हिंदुस्तान को जीत लिया। ठीक बाहर के लोगों ने भी तो यह आक्रमण की तकलीफ क्यों उठाई? परिश्रम से छुटकारा पाने के लिए। इसीलिए उन्होंने बड़े-बड़े यंत्रों की खोज की। शरीर-श्रम कम-से-कम करके बचे हुए समय में मौज और आनंद करने की उनकी वृत्ति है। इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरएक राष्ट्र अब यंत्रों का उपयोग करने लग गया है। पहली मशीन जिसने निकाली उसकी हुकूमत तभी तक चली जबतक दूसरों के पास मशीन नहीं थी। मशीन से संपत्ति और सुख तब तक मिला जबतक दूसरों ने मशीन का उपयोग नहीं किया था। हरएक के पास मशीन आ जानेपर स्पर्धा शुरू हो गई।

आज समाज एक 'चिड़ियाखाना' ही बन गया है। जानवरों की तरह हरएक सोच रहा है कि एक-दूसरे को कैसे खा जाय। क्योंकि वह अपने हाथों से कोई काम करना नहीं चाहता। हमारे गुजराती लोग कहते हैं—

हाथों से काम करना कष्टदायक है। इसमें से किसी-न किसी तरकीब से छूट सकें तो बड़ा अच्छा हो। अगर दो घंटे काम करके पेट भर सकें तो तीन घंटे क्यों करें? अगर आठ घंटे काम करेंगे तो कब साहित्य पढ़ेंगे और कब संगीत होगा? कला के लिए वक्त ही नहीं बचता।

भर्तृहरि ने लिखा है—'साहित्यसंगीत-कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः' —जो साहित्य-संगीत-कला से विहीन है वह बिना पुच्छ विषाण (पूंछ और सींग) का पशु है। मैं कहता हूं— 'ठीक है, साहित्य संगीत-कला-विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है तो साहित्य-संगीत-कला वाला पुच्छविषाणवाला पशु है' दूसरे एक पंडित ने लिखा है—"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्" —बुद्धिमान् लोगों का समय काव्य-शास्त्र-विनोद में कटता है। समय कैसे बिताना यही उनके सामने सवाल है। मानो वह उन्हें खाने के लिए उनके दरवाजे पर खड़ा है! काल तो खाने ही वाला है। उसके खाने की चिंता क्यों करते हो? वह सार्थक कैसे होगा यह देखो। शरीर-श्रम का दुःख क्या मान लिया है यही मेरी समझ में नहीं आता। आनंद और सुख का जो साधन है उसीको कष्ट माना जाता है!

एक अमेरिकन धनवान को किसीने पूछा 'दुनिया में सबसे अधिक धनवान कौन है?' उसने जवाब दिया—"जिसकी पाचनेंद्रिय अच्छी है वह।" सम्पत्ति खूब पड़ी है लेकिन दूध भी हजम करने की ताकत नहीं है, उसको उस सम्पत्ति से क्या लाभ? और पाचनेंद्रिय कैसे मजबूत होती है? काव्य-शास्त्र से तो 'कालो गच्छति'। उस से पाचनेंद्रिय थोड़े ही मजबूत होनेवाली है। पाचनेंद्रिय तो व्यायाम से परिश्रम से मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी चन्द मिनिट का निकला है। मैंने एक किताब देखी—"फिफ्टीन मिनिट्स एक्सरसाइज़"। ऐसे व्यायाम से दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी इसकी चिंता ही नहीं होती। सैंडो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगों ने व्यायाम का शास्त्र भी हिसाबी बना रखा है। थोड़े में व्यायाम निपटाकर काव्यशास्त्र-विनोद में कैसे वक्त बचे यही फिक्र है। थोड़े ही समय में पूरा व्यायाम करने की जो पद्धति है उसमें

स्नायु (मसल्स) बनते हैं, मज्जातंतु (नर्व्स) नहीं बनते। और अमरबेल जिस प्रकार पेड़ को खा जाती है वैसे ही स्नायु आरोग्य को खा जाते हैं। मज्जातंतु आरोग्य बढ़ाते हैं। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे मज्जातंतु बनते हैं और पाचनेंद्रिय मजबूत होती है। चौबीस घंटे हम लगातार हवा लेते हैं लेकिन अगर हम यह सोचने लगें कि दिनभर हवा लेने की यह तकलीफ क्यों उठायें दो घंटे में ही दिनभर की पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो तो यही कहना पड़ेगा कि हमारी संस्कृति आखिरी दर्जे तक पहुंच गई। हमारा दिमाग इसी तरह से चलता है। चलते-चलते आंख बिगड़ जाती है तो हम ऐनक लगा लेते हैं। लेकिन आंखें न बिगड़ें इसका कोई तरीका नहीं निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया है, मेदमाप बढ़ गया है और हमपर बाहर के लोगों का आक्रमण हुआ है—इन सबका कारण यही है कि हममें श्रमनिष्ठा छोड़ी।

* * *

यह तो हुआ जीवन की दृष्टि से। अब शिक्षण की दृष्टि से परिश्रम का विचार करें।

हमने शिक्षण की जो नई प्रणाली बनाई है उसका आधार उद्योग है। क्योंकि हम जानते हैं कि शरीर के साथ मन का निकट संबन्ध है। आज कल मनोविज्ञान (मानसशास्त्र) का अध्ययन करनेवाले हमें बहुत दिखाई देते हैं। पर बेचारों को खुद अपना काम-काज सीखने का तरीका मालूम नहीं होता। चौदह साल के बाद मनुष्य के मन में एकाएक परिवर्तन होता है इसलिए सोलह साल तक लड़कों की पढ़ाई होनी चाहिए, यह सिद्धान्त एक मानसशास्त्री ने मुझे सुनाया। मैंने कहा "क्या मन में परिवर्तन होने का भी कोई पर्व होता है? हम देखते हैं कि शरीर धीरे-धीरे बढ़ता है। किसी एक दिन एकदम को खूब ऊंचा होजता हो ऐसा नहीं होता। तो फिर मन में ही एकदम परिवर्तन कैसे हो सकता है? इसका उत्तर इतना ही है कि इन्द्रियां चौदह साल के बाद बड़ा तेजी से बढ़ती हैं और मन का शरीर के साथ संबन्ध होने से दिमाग भी उसी हिसाब से

तेजी से विकसित होता है। शरीर और मन दोनों एक ही प्रकृति में एक ही कोटि में आते हैं।

कार्लाइल एक भारी तत्त्ववेत्ता और विचारक था। उसके ग्रंथ पढ़ते-पढ़ते कई जगह कुछ ऐसे विचार आ जाते थे जो उसीके ही विचारों से मेल नहीं खाते थे। शंकराचार्य का जैसा सीधा सरल विचार प्रवाह मालूम होता है वैसा उसके लेखन में नहीं दीखता। उसका चरित्र बाद में मुझे पढ़ने को मिला। उसमें मुझे मालूम हुआ कि कार्लाइल को सिर के दर्द की बीमारी थी। तब मुझे उसके लेखन-दोष का कारण मिल गया। मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा उस समय का उसका लेखन कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता होगा। योग-शास्त्र में तो मन-शुद्धि के लिए प्रथम शरीर शुद्धि बतलाई गई है। हमारे शिक्षण-शास्त्र का भी आधार यही है। शरीर-शुद्धि के साथ मनोवृद्धि होती है। लड़कों की मनोवृद्धि करनी है तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए।

परिश्रम से उनकी भूख बढ़ेगी। जिसको दिनभर में तीन बार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए। भूख लगना जिंदा मनुष्य का धर्म है। भूख तो भगवान् का संदेश है। भूख न होती तो दुनिया बिल्कुल अनीतिमान् और अधार्मिक बन जाती। फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अंदर न होती। किसीको भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कार का मौका कैसे मिलता? सामने यह खंभा खड़ा है। इसका हम क्या सत्कार करेंगे? इसको न भूख है न प्यास। हमें भूख लगती है इसलिए हमारे पास धर्म है।

लड़कों से काम करना है तो शिक्षक को भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए। क्लास में झाड़ू लगाना होता है तो उसके लिए या तो नौकर रखे जाते हैं या लड़के झाड़ू लगाते हैं। शिक्षक को हम कभी झाड़ू लगाते नहीं देखते। विद्यार्थी क्लास में पहले आ गए तो वे झाड़ू लगा दें कभी शिक्षक पहले आया तो वह लगा दे ऐसा होना चाहिए। लेकिन झाड़ू लगाने के काम को हमने नीचा मान लिया है ना! फिर शिक्षक बड़ा वह कैसे करें? शिक्षक की दृष्टि से जो परिश्रम लड़कों से करवाये

है वह शिक्षक को पहले सीख लेने चाहिए और लड़कों के साथ करने चाहिए। मैंने एक झाड़ू तैयार की है। एक रोज दो-तीन लड़कियां आई थीं। उनको मैंने वह दिखाई और उसमें कितनी बातें भरी हैं यह समझाया। समझाने के बाद जितनी बातें मैंने कहीं वे सब एक-दो-तीन करके उनसे दोहरवा लीं। लेकिन यह मैं कर सका क्योंकि झाड़ू मैंने खुद बनाई थी और उसको उपयोगमें लाया था।

इस तरह हरएक चीज शिक्षक की दृष्टि से लड़कों को सिखानी चाहिए। एक आदमी ने मुझसे कहा "गांधीजी ने चरखा, कातना, जूते बनाना वगैरा काम खुद करके परिश्रम की प्रतिष्ठा बढ़ा दी।" मैंने कहा "मैं ऐसा नहीं मानता। परिश्रम की प्रतिष्ठा किसी एक महात्मा ने नहीं बढ़ाई। परिश्रम की निज की ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्मा को प्रतिष्ठा दी।" आज हिंदुस्तान में गोपाल-कृष्ण की जो इतनी प्रतिष्ठा है वह उन के गोपालन ने उन्हें दी है। गोप्रेम हमारा गुरुदेव है।

दुनिया की हरएक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मैं धूप में घूम रहा था। चारों तरफ बड़े-बड़े हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मैं सोचने लगा कि ऊपर से इतनी कड़ी धूप पड़ रही है फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे हैं? ये वृक्ष मेरे गुरु बन गये। मेरी समझ में आ गया कि जो वृक्ष ऊपर से इतने हरे-भरे दीखते हैं उनकी जड़ें जमीन में गहरी पहुंची हैं और वहां से उन्हें पानी मिल रहा है। ऊपर से धूप और अंदर से पानी दोनों की कृपा से यह सुंदर हरा रंग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें अंदर से भक्ति का पानी और बाहर से तपस्या की धूप मिले तो देहों के वृक्ष हरे-भरे हो जाय। हम ज्ञान की दृष्टि से परिश्रम को नहीं देखते इसलिए उसमें तकलीफ मालूम होती है। ऐसे लोगों के लिए भगवान् का यह शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नहीं।

किताबें पढ़ने से ज्ञान मिलता है यह ख्याल गलत है। ज्यादा बहुत पढ़ने से हमारा दिमाग स्वतंत्र विचार ही नहीं कर सकता। खुद विचार करने की शक्ति लुप्त हो जाती है। मेरी ऐसी राय है कि

जब से यह किताबें निकलीं तब से स्वतंत्र विचार-पद्धति कम हो गई है। कुरान शरीफ में एक संवाद आया है कि मुहम्मदसाहब से कुछ विद्वान् लोगों ने पूछा तुम्हारे पहले जितने पैगंबर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार ही नहीं दिखाते तो फिर पैगंबर कैसे बन गये? उन्होंने जवाब दिया आप कौन-सा चमत्कार चाहते हैं? एक बीज बोया जाता है उसमें से बड़ा-सा वृक्ष पैदा होता है, उसमें फूल लगते हैं और उसमें से फल पैदा हो जाते हैं। यह क्या चमत्कार नहीं है? यह तो एक जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होंने यह दिया कि मुझ-जैसा निरक्षर आदमी भी आप लोगों को ज्ञान दे सकता है यह क्या कम चमत्कार है? आप और कौन-सा चमत्कार चाहते हैं? हमारे सामने ज्ञान से परिपूर्ण विश्व खड़ा है। हम उसका सच्चा मर्म नहीं पहचानते इसलिए उसमें जो आनंद भरा है वह हमें नहीं मिलता।

रोटी बनाने का काम माता करती है। माता का हम गौरव करते हैं। लेकिन माता का असली माता-पन उस रसोई में ही है यह हम नहीं पहचानते। अच्छी रसोई बनाना बच्चों को खिलाना—इसमें कितना ज्ञान और प्रेमभावना भरी है? रसोई का काम यदि माता के हाथों से ले लिया जाय तो उसका प्रेम-साधन ही चला जायगा। प्रेम-भाव प्रकट करने का वह मौका कोई माता छोड़ने के लिए तैयार न होगी। उसीके सहारे तो वह जिंदा रहती है। मेरे कहने का मतलब कोई यह न समझे कि मैं स्त्रियों पर रोटी पकाने का बोझ लादना चाहता हूं। मैं तो उनका बोझ हलका करना चाहता हूं। इसीलिए हमने आश्रम में रसोई का काम मुख्यतः पुरुषों से ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि जैसे रसोई का काम माता छोड़ देगी तो उस का ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला जायगा वैसे ही यदि हम परिश्रम से बचा करेंगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेंगे।

लोग मुझसे कहते हैं तुम लड़कों से मजदूरी कराना चाहते हो। उनके दिन तो गुलाब के फूल-जैसे खिलने और खेलने-कूदने के हैं।" मैं कहता हूं बिल्कुल ठीक। लेकिन यह गुलाब का फूल किस तरह खिलता है यह भी तो जरा देखो। वह मूर्तरूप से स्वावलंबी है। जमीन से रस

तरह घूम बैठा है, सूखी हवा में अकेला खड़ा होकर धूप बारिश वार सब सहन करता है। बच्चों को भी वैसा ही रखो। मैं यह पसंद करता। उनसे पूछ कर ही देखो कि पेड़ को पानी देने में आनंद आता है, व्याकरण के नियम घोटते रहने में ? सुरगांव (वर्धा) का एक उदाहर मुझे मालूम है। वहां एक प्राथमिक पाठशाला है। करीब ७ से १ साल तक के लड़के उसमें पढ़ते हैं। गांववालों की राय है कि व का शिक्षक अच्छा पढ़ाता है। परीक्षा को एक या दो महीने बा के तब उसने सुबह ७ से ११ ।। तक और दोपहर में २ से ५।। तक अ रात को फिर ७ से ९ बजे तक—यानी कुल नौ घंटे पढ़ाना प किया। न मालूम इतने घंटे वह क्या पढ़ाता होगा और विद्यार्थी क्या पढ़ते होंगे ! लड़के पास हो गये तो हम समझते हैं कि शिक्षक ठीक पढ़ाता है। इस तरह ९-९ घंटे पढ़ाई करानेवाला शिक्षक कार्य हो सकता है। लेकिन मैं तीन घंटे काम की बात कहूं तो कहेंगे कि " लड़कों का हराम करना चाहता है।' ठीक ही है। यहां बड़े ही काम बचाने की फिक्र में हों वहां लड़कों को काम देने की बात कहता कौन हो

लोग पूछते हैं कि "उद्योग इष्ट है, यह तो मान लिया। केवि उससे उत्पादन होना चाहिए, यह आग्रह क्यों ? मेरा जवाब यह है बच्चों को परिश्रम से से जब कोई चीज बनती है तभी आनंद आता। बेचारे मेहनत भी करें और उससे कुछ भी पैदा न हो तो उसमें उन्हें आनंद आवेगा ? किसीने अगर कहा जाय कि 'चक्की तो घुमा लेकिन उसमें गेहूं न डालो और आटा भी तैयार न होने दो' तब वह पूछेगा फिर यह नाहक चक्की घुमाने का मतलब ? तो क्या हम कहेंगे कि घुमाए और उसकी मजबूत बनाने के लिए ? ऐसे उद्योग में कुछ आनंद आ सकता है ?

प्राइमरी स्कूलों में हम उद्योग के आधारपर शिक्षण न देंगे तो शि को अनिवार्य न कर सकेंगे। आज गांववाले कहते हैं कि 'लड़का स्कूल पढ़ने जाता है तो उसमें काम के प्रति घृणा पैदा हो जाती है और इस लिए वह निकम्मा हो जाता है। फिर उसे स्कूल क्यों भेजें ? केवि

हमारी पाठशालाओं में उद्योग शुरू हो गया तो समझदार माता-पिता खुशी से अपने लड़के को स्कूल भेजेंगे। लड़का क्या पढ़ता है, यह भी देखने आयेंगे। आज तो लड़के की क्या पढ़ाई हो रही है, यह देखने के लिए भी माँ-बाप नहीं आते। उनको उसमें रस ही नहीं मिलता। पढ़ाई में उद्योग दाखिल हो जाने के बाद इसमें फर्क पड़ेगा। गाँववालों के पास भी काफी ज्ञान है। हमारा शिक्षक सब्ज तो नहीं हो सकता। वह गाँववालों के पास जायगा और अपनी कठिनाइयाँ उनको बतायगा। स्कूल के बगीचे में अच्छे पपीते नहीं लगते तो वह उसका कारण गाँववालों से पूछेगा। फिर वे बतायेंगे कि इस-इस किस्म की खाद डालो खाद खराब होने से पपीते में कीड़े लग जाते हैं। हम समझते हैं कि हम कृषि-कालेज में पढ़े हुए हैं इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है। लेकिन हमारा बहुतसा ज्ञान किताबी होता है। जबतक हम प्रत्यक्ष उद्योग नहीं करते तबतक उसमें प्रगति और वृद्धि नहीं होती। अगर हम गाँववालों का सहयोग चाहते हैं उनके ज्ञान से लाभ उठाना है तो स्कूल में उद्योग शुरू करना चाहिए। हमारे और उनके सहयोग से उस काम में सुधार भी होगा।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षकों में श्रम के प्रति प्रेम और आदर उत्पन्न होगा। हमारी नई शिक्षा प्रणाली इसी आधार पर बनाई गई है।

लोकमान्य के चरणों में श्रद्धांजलि ४३

आज का नैमित्तिक पर्व लोकमान्य का पुण्य-स्मरण है। आज तिलक की पुण्यतिथि है।

१९२० में तिलक शरीररूप से हमारे अन्दर नहीं रहे। उस समय मैं बंबई गया था। चार-पाँच दिन पहले ही पहुँचा था। परन्तु डाक्टर ने कहा अभी कोई डर नहीं है। इसीलिए मैं एक काम से साबरमती जाने को रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊँगा कि मुझे लोकमान्य की मृत्यु का समाचार मिला। मेरे अत्यन्त निकट के आत्मीय

सहयोगी और मित्र की मृत्यु का जो प्रभाव हो सकता है वही लोकमान्य के निधन का हुआ। मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिन से जीवन में कुछ सूनापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानों कोई बहुत ही प्रेम करनेवाला कुटुम्बी चल बसा हो। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। आज इतने बरस होगये। आज फिर उनका स्मरण करता हूं। लोकमान्य के चरणों में अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि अपनी गहरी श्रद्धा के कारण दे रहा हूं।

तिलक के विषय में जब मैं कुछ कहने लगता हूं तो मुंह से शब्द निकालना कठिन हो जाता है गद्‌गद् हो उठता हूं। साधु-सन्तों का नाम लेने ही मेरी जो स्थिति होती है वही इस नाम से भी होती है। मानो उनके स्मरण में ही यह शक्ति संचित है। रामनाम को ही लीजिए। कितने जड़ जीवों का इस नाम के स्मरण से उद्धार होगया! इसकी गिनती कौन करेगा? अनेक आन्दोलन अनेक ग्रंथ इतिहास पुराण—इनमें से किसी भी चीज का उतना प्रभाव न हुआ होगा जितना कि रामनाम का हुआ है और हो रहा है। राष्ट्रों का पतन हुआ और अस्त हुआ। राज्यों का विकास हुआ और लय हुआ। लेकिन रामनाम की सत्ता अबाधित चली है। जिन्होंने पवित्र कर्म किये अपना शरीर परमार्थ में लगाया उनके नाम में ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसीमें मनुष्य की विशेषता है। आहार-विहारादि दूसरी बातों में मनुष्य और पशु समान ही हैं। परन्तु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशु से भी नीच बन सकता है उसी प्रकार पराक्रम से पौरुष से वह परमात्मा के निकट भी जा सकता है। मनुष्य में ये दोनों शक्तियां हैं। पशु की शक्ति मर्यादित है। उसकी बुराई की भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्य के पतन की या ऊपर उठने की कोई सीमा नहीं है। वह पशु से भी नीचे गिर सकता है। और इतना ऊपर चढ़ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जिन लोगों ने अपना जीवन सारे संसार के लिए अर्पण कर दिया उनके नाम में बहुत बड़ी पवित्रता आ जाती है। उनका नाम ही तारे के समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते हैं 'चाक्षुष्मं सर्वदर्शिनं'

'भारद्वाजं तर्पयामि' 'अत्रिं तर्पयामि'। इन ऋषियों के बारे में हम क्या जानते हैं? क्या सात आठ सौ पन्नों में उनकी जीवनी लिख सकते हैं? शायद एकाध सफा भी नहीं लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वसिष्ठ—यह नाम ही काफी है। मेरा विश्वास है कि सैकड़ों वर्षों के बाद तिलक का नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन चरित्र आदि बहुत-सा नहीं रहेगा किन्तु इतिहास के आकाश में उनका नाम तारे के समान चमकता रहेगा।

हमें महापुरुषों के चारित्र्य का अनुसरण करना चाहिए न कि उनके चरित्र का। दरअसल महत्त्व चारित्र्य का है। शिवाजी महाराज ने सौ-दो-सौ किले बनाकर स्वराज्य प्राप्त किया इसलिए आज यह नहीं समझना चाहिए कि उसी तरह के किले बनाने से स्वराज्य प्राप्त होगा। किन्तु जिस वृत्ति से उन्होंने अपना जीवन बिताया वह वृत्ति वे गुण हमें चाहिए। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समय का स्वरूप हमारे काम का नहीं है। उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं चारित्र्य उपयोगी है। कर्तव्य करते हुए उनकी जो वृत्ति थी वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणों का स्मरण आवश्यक है।

एक कहानी मशहूर है। कुछ लड़कों ने 'साहसी यात्री' नाम की एक पुस्तक पढ़ी। फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तक में लिखा है वैसा ही हम भी करें। उस पुस्तक में बीस-पच्चीस युवक थे। ये भी यहां-वहां से बीस-पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तक में लिखा था कि वे एक जंगल में गये। फिर क्या था? ये भी एक जंगल में पहुंचे। पुस्तक में लिखा था कि उन लड़कों को जंगल में एक शेर मिला। अब ये बेचारे शेर कहां से लायें? आखिर उनमें से जो एक बुद्धिमान लड़का था वह कहने लगा 'अरे भाई, हमने तो शुरू से ही गलती की है। हम उन लड़कों की नकल उतारना चाहते हैं लेकिन यहां तो सबकुछ उल्टा ही हो रहा है। वे लड़के कोई पुस्तक पढ़कर थोड़े ही निकले थे मुसाफिरी करने। हमसे तो शुरू में ही गलती हुई।'

तात्पर्य यह कि हम चरित्र की सारी घटनाओं का अनुकरण नहीं कर सकते। इतिहास से हमें सिर्फ गुण ही लेने चाहिए और श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण रखना चाहिए। पूर्वजों के गुणों का श्रद्धापूर्वक स्मरण ही श्राद्ध है। आज का यह श्राद्ध मुझे पावन प्रतीत होता है।

तिलक का पहला गुण कौन-सा था? तिलक चितपावन ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नहीं हैं वे भी उनका स्मरण कर रहे हैं। तिलक महाराष्ट्र के मराठे थे। लेकिन पंजाब के पंजाबी और बंगाल के बंगाली भी उन्हें पूज्य मानते हैं। हिन्दुस्तान तिलक का ब्राह्मणत्व और उनका मराठापन बिलकुल भूल गया है। यह चमत्कार है। इसमें रहस्य है—दोहरा रहस्य है। इस चमत्कार में तिलक का गुण तो है ही लेकिन हमारे पूर्वजों की कमाई का भी गुण है। जनता का एक गुण और तिलक का एक गुण—दोनों के प्रभाव से यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारत में सभी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। दोनों के गुण की ओर हमें ध्यान देना चाहिए।

इस अवसर मुझे अहल्या की कथा याद आ रही है। रामायण में मुझे अहल्या की कथा बहुत सुहाती है। राम का सारा चरित्र ही श्रेष्ठ है और उसमें यह कथा मुझे बहुत ही प्यारी है। गहराई से देखें तो आज भी राम का अवतार हो चुका है। यह जो रामलीला हो रही है इसमें मैं कौन-सा हिस्सा लूं, किस पात्र का अभिनय करूं यह मैं सोचने लगता हूं। राम की इस लीला में मैं क्या बनूं? लक्ष्मण बनूं? नहीं नहीं। लक्ष्मण-सी वह जागृति वह शक्ति मैं कहां से लाऊं? तो क्या भरत बनूं? नहीं। भरत की कर्तव्य-तत्परता उत्तरदायित्व का बोध उनकी व्याकुलता और त्याग मैं कहां से लाऊं? हनुमान का तो नाम लेने की भी हिम्मत नहीं होती। उसकी वह सेवा निष्ठा वह शक्ति मैं कहां से लाऊं? हनुमान मानो राम का हृदय ही है। तो फिर गांठ में पुण्य नहीं है इसलिए क्या रावण बनूं? ऊंहूं! रावण भी नहीं बन सकता। रावण की उत्कटता महत्वाकांक्षा मेरे पास कहां है? फिर मैं कौन-सा स्वांग लूं? किस पात्र का अभिनय करूं? क्या कोई ऐसा पात्र नहीं है जो मैं बन सकूं? जटायु,

शबरी—ये तो गुणैक थे। अन्त में मुझे अहल्या नजर आई। अहल्या तो पत्थर बनकर बैठी थी।

सोचा मैं अहल्या का अभिनय करूं जड़ पत्थर बनकर बैठूं। इतने में वह अहल्या बोल उठी "सारी रामायण में सबसे तुच्छ जड़ मूढ़ पात्र क्या मैं ही ठहरी? अरे बुद्धिमान क्या अहल्या का पात्र सबसे निकृष्ट है? क्या मुझमें कोई योग्यता ही नहीं? अरे राम की यात्रा में तो अयोध्या से लेकर रामेश्वर तक हजारों पत्थर थे उनका क्यों नहीं उद्धार हुआ? मैं कोई मामूली पत्थर नहीं हूं। मैं भी गुणी पत्थर हूं।' अहल्या की बात मुझे जंच गई। परन्तु अहल्या के पत्थर में गुण थे तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थर की नहीं। उसी प्रकार सारी महिमा राम के चरणों की भी नहीं। अहल्या के समान पत्थर और राम के चरणों-जैसे चरण दोनों का संयोग चाहिए। न तो राम के चरणों से दूसरे पत्थरों का ही उद्धार हुआ और न किसी दूसरे के चरणों से अहल्या का ही।

इसे मैं अहल्या राम-न्याय कहता हूं। दोनों के मिलाप से काम होता है। यही न्याय तिलक के दृष्टांत पर घटित होता है। तिलक का ब्राह्मणत्व महाराष्ट्रीयत्व आदि सब भूलकर सारा हिंदुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मनाता है। इस चमत्कार में तिलक के गुण और जनता के गुण दोनों का स्थान है। इस चमत्कार के दोनों कारण हैं। कुछ गुण तिलक का है और कुछ उन्हें माननेवाली साधारण जनता का। हम इन गुणों का जरा पृथक्करण करें।

तिलक का गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारतवर्ष का विचार किया। तिलक के फूल बम्बई में गिरे इसलिए वहां उनके स्मारक-मंदिर होंगे। वे पूना में रहे इसलिये वहां उनके स्मारक बनेंगे। उन्होंने मराठी में लिखा इसलिए मराठी भाषा में उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलक ने जहां-कहीं जो कुछ किया—चाहे जिस भाषा में क्यों न किया हो वह सब भारतवर्ष के लिए किया। उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूं मैं महाराष्ट्र का हूं। उनमें पृथकता की भेद की भावना नहीं थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्ष का

ने यहां आकर हमें देशाभिमान सिखलाया तब कहीं हम राष्ट्रीयता से परिचित हुए। पर यह गलत है। एकराष्ट्रीयता की भावना अगर हमें किसीने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान् पूर्वजों ने। उन्हींकी कृपा से यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रर्षि ने हमें यह सिखावन दी है कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। 'दुर्लभं बंगेषु जन्म' 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म' ऐसा उन्होंने नहीं कहा। काशी में गंगातट पर रहने वाले को किस बात की तड़प होती है? वह इसके लिए तड़पता है कि काशी की गंगा की बहंगी या कावर भरकर कब रामेश्वर को चढ़ाऊं? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकान का आंगन और पिछवाड़ा ही! वास्तव में तो काशी और रामेश्वर में पंद्रह सौ मील का फासला है। परंतु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियों ने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आंगन पंद्रह सौ मील का है। रामेश्वर में रहनेवाला इसलिए तड़पता है कि रामेश्वर के समुद्र का जल काशी-विश्वेश्वर के मस्तक पर मैं कब चढ़ाऊंगा। वह रामेश्वर का समुद्र-जल काशी तक ले जायेगा। कावेरी और गोदावरी के जल में नहानेवाला भी जब कभी 'हर गंगे' ही कहेगा। गंगा सिर्फ काशी में ही नहीं यहांपर भी है। जिस बर्तन में हम नहाने के लिए पानी लेते हैं उसे भी 'गंगाळ' (गंगालय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह!

यह भावना आध्यात्मिक नहीं किंतु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभं भारते जन्म' नहीं कहेगा। वह और ही कुछ कहेगा। तुकाराम ने कहा है 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रयामध्ये वास॥' (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होंने आत्मा की मर्यादा को व्यापक बना दिया। सारे दरवाजों सारे किलों को तोड़कर आत्मा को व्याप्त किया। तुकाराम के समान महापुरुषों ने जो आध्यात्मिक रस में रमे हुए थे अपनी आत्मा को स्वतंत्र संचार करने दिया। अणोरणीयान् महतो महीयान् इस भावना से प्रेरित होकर, सारे भेदाभेदों को पार कर जो सर्वत्र विश्वात्मा के दर्शन कर सके वे धन्य हैं। लोग भी समझ गये कि ये सारे विश्व के हैं, इनकी कोई सीमा

नहीं है। परंतु 'दुर्लभं भारते जन्म' की जो कल्पना ऋषियों ने की वह आध्यात्मिक नहीं राष्ट्रीय है।

वाल्मीकि ने अपनी रामायण के प्रारम्भिक श्लोकों में राम के गुणों का वर्णन किया है। राम का गुणगान करते हुए राम कैसे थे इसका वे यों वर्णन करते हैं कि 'समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'— स्थिरता ऊपरवाले हिमालय-जैसी और गाम्भीर्य पैरों के निकटवाले समुद्र-जैसा। देखिए, कैसी विशाल उपमा है! एक सांस में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के दर्शन कराए। पांच मील ऊंचा पर्वत और पांच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो रामायण राष्ट्रीय काव्य बन गया। वाल्मीकि के रोम रोम में राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। रामायण जितना महाराष्ट्र में प्रिय है उतना ही मद्रास केरल में भी प्रिय है।

अंग्रेज या युरोपीय इतिहासकार हमसे कहा करते हैं कि तुम आपस में लड़ते रहे, अंतस्थ कलह करते रहे। आपस में लड़ना बुरा है, यह तो मैं भी मानता हूं। लेकिन यह दोष स्वीकार करते हुए भी मुझे इस आरोप पर अभिमान है। हम लड़े लेकिन आपस में। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक हैं यह बात इन इतिहासकारों को भी मंजूर है। एक छोटा-सा मानव-समुदाय अंग्रेजी कहलाने लगा कि हमारे अंदर एकता है आपस में फूट नहीं है तो उस में कौन-सी बहादुरी है? मान लीजिए कि मैंने अपने राष्ट्र की 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर' इतनी संकुचित व्याख्या कर ली तो आपस में कभी युद्ध ही न होगा। हां मैं ही अपने मुंह पर चाटे से एक थप्पड़ जड़ दूं तो अलबत्ता लड़ाई होगी। परन्तु मैं ही मेरा राष्ट्र हूं ऐसी व्याख्या करके मैं अपने भाई से या मां से किसीसे भी लड़ूं, तो भी वह आपस की लड़ाई नहीं होगी। क्योंकि मैंने तो अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर को ही अपना राष्ट्र मान लिया है। सारांश हम आपस में लड़े यह अभियोग नहीं है परन्तु यह अभिमानास्पद भी है। क्योंकि इस अभियोग में ही अभियोग लगानेवाले ने यह मान लिया है कि हम एक हैं हमारा एक राष्ट्र है। महाराष्ट्र ने पंजाब पर, गुजरात और बंगाल पर

विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियों ने सारे भारतवर्ष का विचार किया तिलक उनमें से एक थे। तिलक ने महाराष्ट्र को अपनी नज़र में रखा और सारे हिन्दुस्तान के लिए लड़ते रहे। जो सच्ची सेवा करना चाहता है, उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थान में करनी पड़ेगी लेकिन उस मर्यादित स्थान में रहकर की जानेवाली सेवा के पीछे जो वृत्ति रहेगी वह विशाल व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए। ग्रामधाम मर्यादित है। लेकिन उसमें मैं जिस भगवान के दर्शन करता हूं वह सर्वत्र व्यापी चर-अचर, जड़ चेतन सबमें निवास करनेवाला ही है ऐसी भावना हो तभी वह वास्तविक पूजा हो सकती है। जले स्थले तथा काष्ठे विष्णु व्यक्त-मूर्तिमान्। उस त्रिभुवन-व्यापक विष्णु को यदि वह पुजारी ग्रामधाम में न देखेगा तो उसकी पूजा निरी पागलपन होगी। सेवा करने में भी खूबी है, पुण्य है। अपने गांव में रहकर भी मैं विश्वेश्वर की सेवा कर सकता हूं। दूसरों को न लूटते हुए जो सेवा की जाती है वह अनमोल होती है।

तुकाराम ने अपना देहू नामक गांव नहीं छोड़ा। रामदास दस गांवों में फिरते और सेवा करते रहे। फिर भी दोनों की सेवा का फल एक है, अनंत है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्म से भी अपार मूल्य मिलता है। सुदामा मुट्ठीभर ही तंदुल लेकर गये थे। लेकिन उन तंदुलों में प्रचंड शक्ति थी। सुदामा की बुद्धि व्यापक थी। बहुत बड़ा कर्म करने पर भी तुच्छ भावनाओं से बहुत थोड़ा फल मिलता है। लेकिन सुदामा छोटे-से कर्म से बहुत बड़ा फल प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि शुद्ध निर्विकार पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है वह छोटी-सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान् होता है। मूल्य बहुत बड़ा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक सिद्धान्त है। मन का रूप या ही कर्मों का भले न हो, वह निश्चय प्रभाव डालता है। वह मन की स्याही से पवित्रता के स्वच्छ कागज पर लिखा हुआ है। दूसरा कोई पोथा कितने ही बढ़िया कागज पर क्यों न लिखा हुआ हो यदि उसके मूल में निर्मल बुद्धि न हो जो कुछ लिखा है, वह प्रेम में रंगा हुआ न हो, तो वह सारा पोथा बेकार है।

परमात्मा के यहां 'कितनी सेवा' यह पूछ नहीं है। 'कैसी सेवा' यह पूछ है। तिलक अत्यंत बुद्धिमान विद्वान नाना शास्त्रों के पंडित थे। इसलिए उनकी सेवा अनेकांगी और बहुत बड़ी है। परन्तु तिलक ने जितनी कीमती सेवा की उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती सेवक भी कर सकता है। तिलक की सेवा विपुल और बहु-अंगी थी तो भी उसका मूल्य और एक तुच्छ सेवक की सेवा का मूल्य बराबर हो सकता है। मात्र उसकी सेवा पर व्यापकता की मुहर लगी होनी चाहिए। यह व्यापकता आज के कार्यकर्ताओं में कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्ता मात्र संकुचित दृष्टि से काम करते हुए दीख पड़ते हैं।

तिलक में यही व्यापकता थी। मैं भारतीय हूं यह भूख से ही उनकी वृत्ति रही। बंगाल में आन्दोलन शुरू हुआ। उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की। बंगाल का साथ देने के लिए महाराष्ट्र को खड़ा किया। स्वदेशी का डंका बजवाया। जब बंगाल लड़ाई के मैदान में खड़ा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बंगाल का दु:ख है वह महाराष्ट्र का भी दु:ख है।" ऐसी व्यापकता सार्वराष्ट्रीयता तिलक में थी। इसीलिए पूना के निवासी होकर भी वह हिंदुस्तान के प्राण बन गये।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था। वह था जनता की विशेषता। तिलक के गुण के साथ जनता के गुण का स्मरण भी करना चाहिए। क्योंकि तिलक अपने-आपको जनता के चरणों की धूल समझते थे। जनता के दोष जनता की दुर्बलता त्रुटियां सबकुछ वह अपनी ही समझते थे। वह जनता से एकरूप हो गये थे इसलिए जनता के गुणों का स्मरण तिलक के गुणों का स्मरण ही है।

यह जो जनता का गुण है वह हमारा कमाया हुआ नहीं है। हमारे महान् पुण्यवान् विशाल दृष्टिवाले पूर्वजों की यह देन है। वह गुण मानों हमने अपनी मां के दूध के साथ ही पिया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजों ने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रांत का किस जाति का है यह देखने के बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमें यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजों

भी यहां आकर हमें देशाभिमान सिखलाया तब कहीं हम राष्ट्रीयता से परिचित हुए। पर यह गलत है। एकराष्ट्रीयता की भावना अगर हमें किसीने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान् पूर्वजों ने। उन्हींकी कृपा से यह अमूल्य देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रपि ने हमें यह सिखावन दी है कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। 'दुर्लभं बंगेषु जन्म' 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म' ऐसा उन्होंने नहीं कहा। काशी में गंगातट पर रहने वाले को किस बात की तड़प होती है? वह इसके लिए तरसता है कि काशी की गंगा की कावड़ी या कांवर भरकर कब रामेश्वर को चढाऊं? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकान का आंगन और पिछवाड़ा हो! वास्तव में तो काशी और रामेश्वर में पंद्रह सौ मील का फासला है। परंतु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियों ने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आंगन पंद्रह सौ मील का है। रामेश्वर में रहनेवाला इसलिए तड़पता है कि रामेश्वर के समुद्र का जल काशी-विश्वेश्वर के मस्तक पर मैं कब चढाऊंगा। वह रामेश्वर का समुद्र-जल काशी तक ले जायेगा। कावेरी और गोदावरी के जल में नहानेवाला भी जब नहाने 'हर गंगे' ही कहेगा। गंगा सिर्फ काशी में ही नहीं यहांपर भी है। जिस बर्तन में हम नहाने के लिए पानी लेते हैं उसे भी 'गंगाळ' (गंगालय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह!

यह भावना आध्यात्मिक नहीं किंतु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभं भारते जन्म' नहीं कहेगा। वह और ही कुछ कहेगा। तुकाराम ने कहा है आम्हुचा स्वदेश। भुवनत्रयामध्यें वास॥ (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होंने आत्मा की मर्यादा को व्यापक बना दिया। सारे दरवाजे सारे खिड़की को तोड़कर आत्मा को प्राप्त किया। तुकाराम के समान महापुरुषों ने जो आध्यात्मिक रंग में रंगे हुए थे अपनी आत्मा को स्वतंत्र संचार करने दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावना से प्रेरित होकर सारे भेदाभेदों को पार कर जो सर्वत्र चिन्मयता के दर्शन कर सके वे धन्य हैं। लोग भी समझ गये कि ये सारे विश्व के हैं इनकी कोई सीमा

नहीं है। परंतु 'दुर्लभं भारते जन्म' की जो कल्पना ऋषियों ने की वह आध्यात्मिक नहीं राष्ट्रीय है।

वाल्मीकि ने अपनी रामायण के प्रारम्भिक श्लोकों में राम के गुणों का वर्णन किया है। राम का गुणगान करते हुए राम कैसे थे इसका वे यों वर्णन करते हैं कि 'समुद्र इव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'— स्थिरता ऊपरवाले हिमालय-जैसी और गाम्भीर्य पैरों के निकटवाले समुद्र-जैसा।" देखिए कैसी विशाल उपमा है! एक सांस में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के दर्शन कराए। पांच मील ऊंचा पर्वत और पांच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो रामायण राष्ट्रीय काव्य बन गया। वाल्मीकि के रोम-रोम में राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। रामायण जितना महाराष्ट्र में प्रिय है उतना ही मद्रास केरल में भी प्रिय है।

अंग्रेज या यूरोपीय इतिहासकार हमसे कहा करते हैं कि "तुम आपस में लड़ते रहे, बराबर झगड़ करते रहे।" आपस में लड़ना बुरा है यह तो मैं भी मानता हूं। लेकिन यह दोष स्वीकार करते हुए भी मुझे इस आरोप पर अभिमान है। हम लड़े लेकिन आपस में। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक हैं, यह बात इन इतिहासकारों को भी मंजूर है। एक छोटा-सा मानव-समुदाय डींगें बघारने लगा कि हमारे अंदर एकता है आपस में फूट नहीं है तो उस में कौन-सी बहादुरी है? मान लीजिए कि मैंने अपने राष्ट्र की 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर' इतनी संकुचित व्याख्या कर ली तो आपस में कभी युद्ध ही न होगा। हां मैं ही अपने मुह पर चांटे एक थप्पड़ जड़ दूं तो अलबत्ता लड़ाई होगी। परन्तु मैं ही मेरा राष्ट्र हूं ऐसी व्याख्या करके मैं अपने भाई से मां से किसीसे भी लड़ूं तो भी यह आपस की लड़ाई नहीं होगी। क्योंकि मैंने तो अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर को ही अपना राष्ट्र मान लिया है। आरोप हम आपस में लड़े यह अभियोग सही है परन्तु वह अभिमानास्पद भी है। क्योंकि इस अभियोग में ही अभियोग लगानेवाले ने यह मान लिया है कि हम एक हैं हमारा एक राष्ट्र है। महाराष्ट्र ने पंजाब पर, गुजरात और बंगाल पर

वडाइयां की फिर भी यह एक राष्ट्रीयता की आत्मीयता की भावना नष्ट नहीं हुई।

जनता के इस गुण की बदौलत तिलक सब प्रांतों में प्रिय और पूज्य हुए। तिलक-गांधी तो अलौकिक पुरुष हैं। सब प्रांत उन्हें पूजेंगे ही। परन्तु राजगोपालाचार्य जमनालालजी आदि तो साधारण मनुष्य हैं। लेकिन उनकी भी सारे प्रांतों में प्रतिष्ठा है। पंजाब महाराष्ट्र कर्नाटक उनका आदर करते हैं। हमें उसका पता भले ही न हो लेकिन एकराष्ट्रीयता का यह महान् गुण हमारे खून में ही घुल-मिल गया है।

आज तिलक का स्मरण सर्वत्र किया जायगा। उनके ब्राह्मण होते हुए भी महाराष्ट्रीय होते हुए भी सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी। क्योंकि तिलक की दृष्टि व्यापक थी वह सारे हिंदुस्तान से एकरूप थे। यह तिलक की विशेषता है। भारत की जनता प्रांताभिमान आदि का ख्याल न करती हुई गुणों को पहचानती है। यह भारतीय जनता का गुण है। इन दोनों के गुणों का यह चमत्कार है कि तिलक का सर्वत्र सब लोग स्मरण कर रहे हैं। जैसे एक ही आम की गुठली से पेड़ शाखा और आम पैदा होते हैं उसी प्रकार एक ही भारतमाता के बालक जुदा-जुदा गुण दिखाई देते हैं—कोई क्रोधी कोई स्नेही। फिर भी मीठे और मुलायम आम जिस गुठली से पैदा होते हैं उसीसे पेड़ का कठिन धड़ भी पैदा होता है। इसी तरह से हम ऊपर से कितने ही भिन्न क्यों न दिखाई दें तो भी हम एक ही भारतमाता की संतान हैं यह कदापि न भूलना चाहिए। इसे ध्यान में रखकर प्रेम-भाव बढ़ाते हुए सेवकों को सेवा के लिए तैयार होना चाहिए। तिलक ने ऐसी ही सेवा की। आशा है आप भी वैसी सेवा करेंगे।

नकली घी के सम्बन्ध में जनता के हित का प्रतिपादन करनेवाली यह पुस्तिका ठीक समय पर ही प्रकाशित की जा रही है। नकली घी के अन्दर घी का एक भी गुण नहीं है। रूप और रंग घी के जैसा और कीमत घी से कम। लोगों को लगता है कि हम घी ही खा रहे हैं।। और घी की नकल करके ग्राहकों से मनमाना पैसा लूटने का अवसर यह पूंजीपतियों को देता है। शेर की खाल ओढ़कर वनमें घूमनेवाले गधे की कहानी हमने बचपन में ईसपनीति में पढ़ी थी। परन्तु वह तो केवल कल्पित कहानी थी। यहां यह तो सत्य कथा है।

घी की उपयुक्तता के विषय में हमारा हजारों वर्षों का अनुभव 'आयुर्वै घृतम्' इस छोटेसे सूत्र में आयुर्वेद ने रख दिया है। नकली घी वालों का दावा है कि उनका घी वही शक्ति जनता को देता है और तेल से उन्हें बचा लेता है। परन्तु घी में जो जीवन-शक्ति है वह नकली घी अर्थात् वनस्पति में नहीं है। इस बात को सब जानते हैं। कितने ही वैज्ञानिकों ने यह स्पष्ट रूप से कहा भी है। इसके विपरीत यह भी कहा गया है कि इसमें जीवन को हानि पहुंचानेवाले तत्त्व हैं। इसका खण्डन करने का प्रयास पूंजीपति कर रहे हैं। वे इस प्रयत्न में भी हैं कि इसमें उन्हें वैज्ञानिकों का समर्थन मिल जाय। संभव है उन्हें वह भी मिल जाय और नकली घी गुणवान् सिद्ध कर दिया जाय। क्योंकि पुराने लोग कह गये हैं —सर्वे गुणा कांचन माश्रयन्ते।

आहार में प्राणीजन्य कोई चीज नहीं हो इस विचार से मैंने बीच में दो बार तीन तीन वर्ष तक घी दूध एकदम छोड़ दिया था। इस प्रयोग में मैंने पूर्वग्रह को छोड़कर लगभग चार महीने कोकोजेम का प्रयोग किया। यह भी विचार था कि यदि यह प्रयोग सफल रहा तो सारे आश्रम में

* गोसेवा-संघ ने नकली घी नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित की है। उसकी प्रस्तावना।

उसे चालू कर दें । यदि यह प्रयोग सफल हो जाता तो मैं कोकोजेम का एक उत्तम प्रचारक बन जाता । परन्तु उस निर्जीव वस्तु से मुझे रत्तीभर भी लाभ नहीं हुआ । इसके विपरीत बैलघानी से निकाले कच्ची के ताजे तेल का मैंने खूब उपयोग करके देखा और उससे मुझे काफी लाभ हुआ । हमारे यहां कई लोगों ने यह प्रयोग करके देखा । बाहर भी कई मित्रों ने यह प्रयोग किया । उन्हें भी लाभ हुआ ।

इस अनुभव का उल्लेख यहां इस लिए किया कि बनावटी वनस्पति में घी के गुण तो हैं ही नहीं परन्तु घानी के निकले ताजे तेल की बराबरी भी वह नहीं कर सकता । परन्तु यह लोग कहते हैं कि तेल खाना भी एक आपत्ति है । उससे जनता को बचाना है । ऐसी दंभपूर्ण भाषा का उपयोग करनेवाले बैलघानी के ताजा तेल से तुलना क्यों नहीं करते ? यदि वे तुलना करके देखेंगे तो पाया जायगा कि वनस्पति घी के प्रचार द्वारा 'तेल गया और घी भी गया और हाथ आया पूरा' ऐसी स्थिति जनता की होगी ।

इस वनस्पति घी की सहायता से सारे देश में व्यावसायिक मिलावट चल रही है । जिससे जनता की पोषण-हानि धन-हानि और सत्व-हानि भी हो रही है । इसलिए यह जरूरी है कि आज के और निकट भविष्य में खड़े किये जानेवाले कारखानों में लगनेवाले यंत्रों की हानि की चिंता छोड़कर सरकार कानून द्वारा इस वनस्पति घी को एकदम बन्द कर दे । फिर वह फुरसत से सोचती रहे कि इन यंत्रों का दूसरा क्या उपयोग हो सकता है । मैं आशा करता हूं कि हमारी स्वराज्य सरकारें इस प्रश्न की ओर तुरन्त और तीव्रतापूर्वक ध्यान देंगी ।

स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा का अर्थ* ४५

१ स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा का पुनरुच्चार

अक्सर ऐसा देखा गया है कि हमारे कार्यकर्ताओं को ज्ञान की खुराक जितनी पहुंचानी चाहिए उतनी पहुंचाने की व्यवस्था हम नहीं करते। अपने राष्ट्र की विशालता और प्रश्नों की जटिलता के लिहाज से हमारे पास कार्यकर्ता बहुत कम हैं और उन कार्यकर्ताओं के पास ज्ञान की पूंजी इससे भी कम है। हमें बहुत-से कार्यकर्ताओं की जरूरत है। लेकिन हम सिर्फ बड़ी संख्या नहीं चाहते। अगर हमारे पास कर्तव्यदक्ष चारित्र्यवान् और अपने कार्य की भूमिका भलीभांति समझनेवाले ज्ञानवान् कार्यकर्ता थोड़े भी हों तो भी काम बहुत होगा।

आज से ठीक एक महीने बाद २६ जनवरी को हमें स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा करनी है। पहले की हुई प्रतिज्ञा को अधिक स्पष्ट भाषा में दुहराना है। करीब दस वर्ष से हर साल हम उसे दुहराते हैं। इसकी बड़ी पुनरावृत्ति का क्या प्रयोजन है यह बात लोगों को समझाने के लिए मैं उस प्रतिज्ञा का स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूं।

हम कहते हैं कि अब स्वराज्य की लड़ाई नजदीक आ रही है लेकिन यह गलत है। "लड़ाई करीब है" कहने का मतलब यह होता है कि आज लड़ाई जारी नहीं है। यह बात सही नहीं है। हमारी लड़ाई तो निरंतर जारी ही है और जारी रहनी चाहिए। हमारी लड़ाई का रूप एक नदी के समान है। वह निरन्तर बहती ही रहती है। फिर भी उसके प्रवाह, मे गरमियों मे और बरसात मे फर्क होता है। जाड़ों मे हम नदी का असली रूप देख पाते हैं किन्तु वह बहती तो बराबर रहती है। उसी प्रकार हमारी लड़ाई भिन्न-भिन्न रूप लेती हुई भी निरन्तर जारी है। हम कार्यकर्ताओं की यह धारणा होनी चाहिए कि हम तो हमेशा लड़ाई में ही लगे हुए हैं।

---

*सेवाग्राम के प्रतिज्ञा-बद्ध सैनिकों के सामने दिया हुआ भाषण दिसंबर १९३९।

जो यह मानते हैं कि अबतक हम नहीं लड़ रहे थे और अब लड़ने जाते हैं उनके सामने यह सवाल पेश होता है कि अब लड़ाई के लिए क्या तैयारी करें ? वे सोचते हैं कि अब जेल में जाना पड़ेगा इसलिए अपनी आदतें बदलनी चाहिए । लेकिन मैं तो कहता हूं कि हमारी लड़ाई हमेशा जारी है । हम लड़ाई की आदतें डाल चुके हैं । अब उन आदतों के बदलने का क्या मतलब है ? अब क्या बिना लड़ाई की आदतें डालनी होंगी ? हमें निरंतर यही भाव जाग्रत रखना चाहिए कि हमारी लड़ाई हमेशा जारी है ।

इस साल स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा में कुछ बातें जोड़ दी गई हैं और उन बातों के साथ इस प्रतिज्ञा का पुनरुच्चार करने के लिए कहा गया है । लेकिन जहां श्रद्धा न हो वहां निरी पुनरुक्ति से क्या होगा ? मुझे एक कहानी याद आती है । एक था साधु । उसने अपने चेले से कहा कि 'राम-नाम जपने से मनुष्य हरएक संकट से पार हो सकता है ।' उसके वाक्य में शिष्य की श्रद्धा तो थी लेकिन उसे इसका पूरा-पूरा विश्वास नहीं था कि राम-नाम चाहे जिस संकट से उसे तार देगा । एक बार उसे नदी पार करनी थी । वह बेचारा अर्धश्रद्धा से रामनाम रटते हुए नदी पार करने लगा । जैसे-जैसे गले तक पानी में गया और वहां से बहते बहता हुआ बड़ी मुश्किल से वापस आया । गुरु से कहने लगा "लगातार नाम स्मरण किया लेकिन पानी कम नहीं हुआ । सब अकारथ गया ।" गुरु बोला 'अनेक बार नामस्मरण किया इसीलिए अकारथ गया । अगर नामस्मरण में तुझे श्रद्धा थी तो एक बार किया हुआ नामस्मरण तुझे काफी क्यों नहीं लगा ? श्रद्धा कम थी इसीलिए तूने बार-बार नामस्मरण किया और इसीलिए गोते खाये । स्वतंत्रता कि प्रतिज्ञा एक बार मनो-योग-पूर्वक करलेनेवाला सचमुच निर्भयी है यह हम मान सकते हैं । लेकिन अगर वह हर साल प्रतिज्ञा करने लगे—इस साल नंबर एक की प्रतिज्ञा उसके साल नंबर दो की प्रतिज्ञा तीसरे साल नंबर तीन की प्रतिज्ञा इस तरह प्रतिज्ञाएं करने लगे—तो यह शक होने लगेगा कि इस प्रतिज्ञा का कोई अर्थ भी है या नहीं ? केवल शाब्दिक पुनरुच्चार से प्रतिज्ञा दृढ़ नहीं होती ।

२ स्वतंत्रता की आवश्यकता क्यों ?

लेकिन इस साल की प्रतिज्ञा महज दुहराने के लिए नहीं है। उसमें महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण है। हमारी गुलामी के अनेक कारण हैं। अंग्रेजी राज्य पर हम कई आक्षेप कर सकते हैं लेकिन सबसे बड़ा आक्षेप तो यह है कि अंग्रेजी राज्य की बदौलत हमें फाकाकशी कि देन मिली। आप अगर लोगों से पूछेंगे कि 'आपकी स्वराज्य की परिभाषा क्या है' तो वे इस प्रकार जवाब देंगे आप कहते हैं कि आठ प्रांतों में कांग्रेस का राज स्थापित हो गया। कांग्रेस का उस तरह का राज ग्यारह-के-ग्यारहों प्रांतों में हो जाय और अबतक जो अधिकार नहीं मिले थे वे भी सब मिल जायं मगर हमारी फाकाकशी ज्यों-की-त्यों बनी रहे तो हम तो यही कहेंगे कि यह स्वराज्य नहीं है। यही हमारी परिभाषा है। परावलंबन की जगह स्वावलंबन प्राप्त हो जाय मगर भूखों मरना बना ही रहे तो केवल भारत की ही जनता नहीं बल्कि भारत की जनता की जैसी शोचनीय दशा में रहनेवाली संसार की किसी भी देश की जनता कहेगी कि हम यह स्वावलंबी फाकाकशी नहीं चाहते। न हम स्वावलंबी उपवास के कायल हैं न परावलंबी उपवास के। हम तो भूखों मरना ही नहीं चाहते। हमें फाकाकशी ही नहीं चाहिए, फिर उसका विशेषण कुछ भी क्या न हो।

कुछ वक्ता जोश में आकर कह देते हैं कि 'गुलामी में चाहे जितना खाने को मिले तो भी हमें गुलामी नहीं चाहिए स्वतंत्रता चाहिए। फिर, स्वतंत्रता में हमारी चाहे जितनी भी बुरी हालत हो भूखों भी क्यों न मरना पड़े। लेकिन उन्हीं वक्ताओं से अगर आप यह पूछें कि 'अगर स्वराज्य में रेलगाड़ियां न हों तो? तब वे कहने लगते हैं कि 'ऐसा स्वराज्य किस काम का? उनसे पूछिए कि "रेलगाड़ीवाली गुलामी की अपेक्षा बिना रेलगाड़ीवाली स्वतंत्रता क्या अच्छी नहीं?" लेकिन बात उनके गले नहीं उतरेगी। "स्वराज्य की कमी सुराज्य से पूरी नहीं हो सकती यह कहनेवाले बिना रेल वाले स्वराज्य की कल्पना से भी घबराते हैं। तब बतलाइए कि अगर भूखों मरने की कल्पना से साधारण आदमी घबराने लगे तो क्या आश्चर्य?

यहां मुझे कौशल की जानकारी नामक जाति के एक रिवाज की याद आती है। जानकारी अपनी जाति के मरे हुए आदमी से कहता है "देख अबके जनम में बामन बनेगा तो रट रटकर मरेगा, वैश्य बनेगा तो कमा-कमाकर मरेगा लेकिन अगर जानकारी बनेगा तो बन का राजा बनेगा।" यह गांव की संस्कारवान् परतंत्रता नहीं चाहता उसे जंगल की संस्कार-हीन स्वतंत्रता ही प्रिय है। शहरी और बनैले चूहों की कहानी मशहूर है। बनैला चूहा कहने लगा कि "मुझे न शहर की वह शान चाहिए और न वह पराधीनता।" अगर जनता की भी यही हालत होगी तो हमें सर्वत्र स्वतंत्रता ही दिखाई देगी। स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा तो ठेठ वेद-काल से चली आई है—

'व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये'

इस वेद-वचन में स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा व्यक्त की गई है। 'व्यचिष्ठ' का अर्थ है अत्यंत व्यापक जिसमें सबको मत-दान का अधिकार हो। और 'बहुपाय्य' से मतलब है—जिसकी बहुसंख्या की रक्षा के लिए व्यवस्था है, ऐसे स्वराज्य के लिए हम कोशिश कर रहे हैं—यह उस प्रतिज्ञा का अर्थ है। मतलब यह कि उस अत्रि ऋषि के जमाने से पंडित जवाहरलाल के इस जमाने तक यही स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा विद्यमान है। वेद की प्रतिज्ञा जैसी आप चाहते हैं ठीक वैसी ही है। उसमें भी बहुवचन का प्रयोग है।

सारांश यह कि हम अपने चोटी के व्याख्यानों या कविताओं में स्वराज्य की जो व्याख्या करते हैं वह आम जनता के गले नहीं उतरती है। जिसमें अन्न जल का इंतजाम न हो वैसा स्वराज्य जनता नहीं चाहती। उसे नैमित्तिक उपवासों का अभ्यास है। एकादशी शिवरात्रि के उपवास की वह आदी है लेकिन रोज का भूखों मरना वह सहन नहीं कर सकती। आप इसे हमारा पशुत्व भले ही कह दीजिए चाहे हमें मानव-पशु मान लीजिए लेकिन इस मानवीय पशु को पेटभर अन्न चाहिए।

यथार्थवादियों और साम्यवादियों के कथन में बड़ी सत्यांश है। हमारी भी मुख्य पुकार यही है। हम आकाशकुसुम नहीं चाहते। हमें भरपेट

अब चाहिए। चाहे आप इसे हमारा अधिकार कहें, कर्तव्य कहें, या और किसी नाम से पुकारें। हमें चाहिए भर पेट खाने की स्वतंत्रता।

हिंदुस्तान में इस प्रकार की स्वतंत्रता स्थापित हो यह हमारा प्रधान विचार है। स्वराज्य के विषय में मैं विचार करता हूं इसका कारण यह कि हिंदुस्तान में स्वराज्य के बारे में विचार न करना महापाप है। स्वराज्य का सवाल फाकाकशी से मुक्त होने का सवाल है। जैसा कि तिलक महाराज कहते थे यह 'दाल-रोटी का सवाल' है।

१ स्वतंत्रता का मार्ग अहिंसा और उसके ऊपर श्रद्धा

कोई-कोई पूछते हैं कि अहिंसा से स्वराज्य कैसे मिलेगा? इसकी चर्चा अगर हम आज शुरू करें तो वह स्वराज्य प्राप्ति तक खत्म नहीं होगी। इसलिए मैं इस फेर में नहीं पड़ता। वर्तमान यूरोप का चित्र अहिंसा का पदार्थ-पाठ है। अहिंसा के अभाव से क्या होता है इसका पता मौजूदा यूरोप को देखने से चलता है। छोटे-छोटे राष्ट्र तो आज खत्म होते जा रहे हैं। आजकल तो सभी काम बिजली के बटन की तेजी से होते हैं। पहले आदमी सौ-सौ वर्ष जीते थे अब तड़ाक-फड़ाक मर जाते हैं। पंद्रह दिन में पूरे-के-पूरे राष्ट्र गायब हो जाते हैं। पहले ऐसी बातें न किसीने देखी थीं न सुनी थीं। आज तो मानो बटन दबाते ही राष्ट्र नदारद हो जाता है। चीन का कितना बड़ा हिस्सा जापान निगल गया है, इसका आज हमें पता ही नहीं। भविष्य में जब नया नक्शा तैयार होगा तब हमें पता चलेगा। शस्त्रास्त्रों की इतनी तैयारी करने पर भी आखिर चीन की क्या हालत हुई? फिर हिंदुस्तान-जैसा गलितकलेवर राष्ट्र शस्त्रास्त्रों से स्वराज्य कब पा सकता है? 'यतेमहि' (कोशिश करना) तो अग्नि के जलाने से शुरू ही है। क्या उसी तरह अनंत काल तक कोशिश ही करते रहें? आज तो सब कोई लाठी में ही विश्वास करते हैं।

कुछ लोग मुझसे कहते हैं कि तुम नए विचार नहीं पढ़ते। आधुनिक विचारों के साथ परिचय नहीं बढ़ाते। सुनता हूं कि ये विचार यूरोप से जहाज में आते हैं और बंबई के बंदर पर उतरते हैं। अगर उधर से जो

घुस जाता है वह सब अच्छा होता है ऐसा तो अनुभव नहीं है। शहर में इन्फ्लुएंजा की हवा आई जिसमें साठ लाख आदमी मर गये। विचारों की हवा के ये झकोरे बराए-मेहरबानी बंद कीजिए। कुछ शिक्षा लेने के लिए जिस पाठशाला में जायं यह तो भी सोचने की बात है। जिस शिक्षक की पाठशाला में पांच सौ छड़ियां और सिर्फ दो चार पुस्तकें हों उसकी पाठशाला में भी क्या हम जायंगे? यूरोप के लोग बहुत-सी पुस्तकें लिखते हैं। उनके पीछे खर्च भी बहुत करते हैं, यह मैं जानता हूं। लेकिन साथ-साथ मैं यह भी तो देखता हूं कि वे फौज पर पुस्तकों से कितना गुना ज्यादा खर्च करते हैं। हमें विचार को उसीसे ग्रहण करना चाहिए, जिसका उस विचार में विश्वास हो। शंकराचार्य-जैसा कोई हो तो उससे हम विचार ले सकते हैं क्योंकि उनकी तो यह प्रतिज्ञा है कि "मैं विचार ही दूंगा।" उनसे पूछिए कि "अगर मेरी समझ में न आय तो?" तो वह यही जवाब देगा कि "मैं फिर समझाऊंगा।" "और फिर समझ में न आय तो?" "दुबारा समझाऊंगा" "और फिर भी न आया तो?" "फिर समझाऊंगा समझाता ही जाऊंगा। अंत तक विचार से ही समझाऊंगा।" जिसकी ऐसी प्रतिज्ञा है उस शंकराचार्य से विचार सीखने को मैं तैयार हूं। ऐसी प्रतिज्ञा अगर कोई जर्मन या रशियन करता तो उसकी पुस्तक भी मैं खरीदता। लेकिन वह सिर्फ इतना ही कहता है कि "तुम मेरी पुस्तक पढ़ो।" और अगर हम पूछते हैं कि "हमारी समझ में न आया तो?" तो वह जवाब देता है "पिटोगे।" जिसका विचारों की अपेक्षा लाठी में अधिक विश्वास है उससे विचार कैसे लें?

यूरोप की पद्धति का अनुसरण करना हिंदुस्तान के खून में ही नहीं है। कहा जाता है कि अंग्रेजों ने हिंदुस्तानियों के हथियार छीन लिये यह बड़ा नैतिक अपराध किया है। मैं भी यह मानता हूं। जबर्दस्ती समूचे राष्ट्र के हथियार छीनना घोर अपराध है। लेकिन मैं अपने दिल में सोचता हूं कि इन मुट्ठीभर लोगों ने उस समय के पच्चीस करोड़ लोगों के हथियार छीन कैसे लिये? इन पच्चीस करोड़ के हाथ क्या बांध रखे गये थे? उनके हथियार मांगते ही इन्होंने दे कैसे दिये? इसका एक ही कारण

हो सकता है। वे हथियार हम लोगों के अंग नहीं थे। अगर हमारे जीवन के अंग होते तो वे छीने नहीं जाते। तुकाराम ने एक भले आदमी का जिक्र किया है। उसके एक हाथ में ढाल और दूसरे हाथ में तलवार थी। बेचारे के दोनों हाथ उलझे हुए थे इसलिए वह कोई बहादुरी का काम नहीं कर सकता था। यही न्याय तो यहांपर भी चरितार्थ नहीं करना है न? इसलिए हमारे हथियार छीन लिये गये इसका सीधा अर्थ यही हो सकता है कि हिंदुस्तान के लोगों के स्वभाव में हथियार नहीं थे। कुछ फौजी जातियां थीं। दूसरे लोग भी हथियार रख सकते थे। लेकिन रखे-रखे उनपर जंग चढ़ गया था।

लेकिन इसका यह मतलब हरगिज नहीं कि हिंदुस्तान के लोग बहादुर नहीं थे। इसका मतलब इतना ही है कि उनका हथियारों पर दार-मदार नहीं था। हिंदुस्तान के सारे इतिहास में यह आरोप किसीने नहीं किया कि यहां के लोग शूरवीर नहीं हैं। सिकंदर को सारी धरती नरम लगी लेकिन हिंदुस्तान में उसने काफी ठोकर खाई। जहां-जहां ऊंट जा सकता था वहां-वहां मुसलमान मज़े में चले गये। जहां खजूर और रेत थी वहां उनका ऊंट बढ़ता चला गया। लेकिन हिंदुस्तान में प्रवेश पाने में उन्हें बीस साल लगे। हिंदुस्तान बहादुर नहीं था इसका इतिहास में कोई सबूत नहीं है।

लेकिन हमारी संस्कृति की एक मर्यादा निश्चित थी। इसलिए हमने दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण कभी नहीं किया। किसी-न-किसी कारण से हमारी संस्कृति अहिंसक रही। तभी तो हमारी पैंतीस करोड़ जनता है। यूरोपीय राष्ट्र दो चार करोड़ ही की बात कर सकते हैं। यहां पैंतीस करोड़ हैं।

इसका यह कारण है कि हिंसा का सिद्धांत टूटा-फूटा और अहिंसा का सिद्धांत साबित है। यूरोप की हालत कांच के प्याले-जैसी है। जमीन पर पटकते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। आप जरा एकाध कांच का प्याला जमीन पर पटककर तमाशा देखिए। यूरोपीय राष्ट्रों के नक्शों के समान छोटे-बड़े टुकड़े दिखाई देंगे। लेकिन हम लोगों ने अपना पानी पीने का

याद रखिए कि अगर आप हिंसा के फेर में पड़े तो इस देश के यूरोप के समान छोटे-छोटे टुकड़े होकर ही नहीं रहेंगे बल्कि हमारी खास परिस्थिति के कारण टुकड़े भी नहीं मिलेंगे। हमारा तो चूरा ही हो जायगा।

४ हमारी साधन-सामग्री : विधायक कार्यक्रम

हमारी स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा के तीन भाग हैं। पहला—स्वतंत्रता की आवश्यकता क्यों है, दूसरा—स्वतंत्रता किस मार्ग से प्राप्त करनी है उस मार्ग में श्रद्धा और तीसरा—हमारी साधन-सामग्री अर्थात् रचनात्मक कार्यक्रम। अबतक दो भागों का विवरण किया। अब रचनात्मक कार्यक्रम पर आता हूं।

रचनात्मक कार्यक्रम में हिंदू-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, ग्रामसेवा और खादी आदि का समावेश है।

मुख्य बात यह है कि हम सच्चे दिल से और लगन से काम करें। लोग कहते हैं 'तुम रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर देते हो, लेकिन उधर जिन्ना क्या कहते हैं, अंबेडकर का क्या कहना है, यह भी तो सुनो।' उसे सुनकर गुस्सा आता है। अंबेडकर कहते हैं कि 'हम लोगों ने पूना का समझौता किया और इन्हीं बदमाशों ने उसे तोड़ दिया।' हम कहते हैं 'हमने ईमानदारी से उस समझौते पर अमल करने की कोशिश की।' पर जरा वस्तुस्थिति तो देखिए! जनता में क्या हो रहा है? दूर की बात जाने दीजिए। सेवाग्राम और पौनार को ही ले लीजिए। पौनार में कातने के लिए जो लड़के आते हैं उनमें कुछ हरिजन लड़के भी हैं। उनमें एक हरिजन लड़के से मैंने कहा, 'तू खाना पकाना जानता है?' उसने कहा "नहीं।" मैंने कहा 'हमारे यहां रसोई बनाने आया कर, हम तुझे सिखा देंगे।' वह हमारे यहां रसोई बनाने आने लगा। मैं पौनार के कुछ लोगों को न्यौता देने लगा। शुरू में तो दस-पांच लोग आये वे ही आये। लेकिन अब कोई नहीं आता। मैं वहां गाय के दूध से घी बनाता हूं और मट्ठा मुफ्त में बांटता हूं। लेकिन मुफ्त का मट्ठा लेने के लिए भी कोई नहीं आता। यह हाल है!

अच्छा हम कार्यकर्ता लोग भी लगन से काम करते हों, सो बात भी नहीं है। किसी कार्यकर्ता से कहा जाय कि एक हरिजन लड़के को बिल्कुल अपने निज के बेटे के समान अपने परिवार में रक्खो तो वह कहता है कि यह बात हमारी स्त्री को पसंद नहीं है, मेरी मां तो मानेगी ही नहीं। "स्त्री को पसंद नहीं है, मां मानती नहीं है" यह सब सही। लेकिन इसका परिणाम क्या होता है? यही कि हम हरिजनों को दूर रखते हैं। इसलिए अबेडकर तो मुझे अवतार ही लगता है। चाहे किसी प्रकार की क्यों न हो हरिजनों में वह चेतना तो पैदा करता है। वह हमारा भरोसा कैसे करे? "हम पसंद नहीं है, वह मानता नहीं है" इन बातों का मूल्य हमारे नजदीक हरिजनों को अपनाने से भी अधिक है। हम कहते हैं हम हरिजनों को अपने घर में नहीं रख सकते, हम उनके घर भोजन नहीं कर सकते। इस तरह हृदय से हृदय कैसे मिलेगा?

समाजवादी कहता है, तुम यह अस्पृश्यता-निवारण का झंझट ही छोड़ो। गरीबी और भूख के असल सवाल को लो। मैं कहता हूं "भाई, तुम्हारी युक्ति बड़ी अच्छी है, मैं उसे स्वीकार करने को भी तैयार हूं। लेकिन भाई मेरे, यह काम नहीं आयेगी। हिन्दुस्तान से ज्यादा कंगाल लोग दुनिया में और कहां हैं? लेकिन मेरा भूखा पिया हुआ लड़का भी हरिजन लोग मेरे को तैयार नहीं है। यह सवाल तुम्हारी तदबीर से हल नहीं होगा। तुम कहोगे कि अब छुआछूत कम हो चली है। रेल में स्कूलों में लोग छूत नहीं मानते। लेकिन इसमें तो बहुत-कुछ करामत अंग्रेजों की है। इसका यह अर्थ नहीं कि जनता ने छुआछूत मानना छोड़ दिया है।

अश्वमेधसहस्रेण सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद् हि सत्यमेव विशिष्यते ॥

(हजारों अश्वमेधों के साथ सत्य तोला गया, पाया गया कि सत्य ही श्रेष्ठ है।) हरिजनों के लिए बोर्डिंग खोलना, उन्हें छात्रवृत्तियां देना ये सब बाह्य हजारों अश्वमेधों के समान हैं। ऐसे हजारों अश्वमेध-यज्ञों की अपेक्षा एक हरिजन-लड़का अपने परिवार में रखना—जिस प्रेम से हम अपने कुटुंबियों से पेश आते हैं उसी प्रेम से उसके साथ व्यवहार करना—यह

सत्य अधिक महत्त्व रखता है। हमें उसके सुख-दुःख में शामिल होना चाहिए, उन्हें अपनाना चाहिए और इस तरह उनकी स्थिति को बोध लेना चाहिए।

हिंदू-मुस्लिम-एकता के सवाल से भी ऐसा ही खिलवाड़ किया जा रहा है। आज जो कुछ भी हो रहा है मैं उसे खिलवाड़ ही कहूंगा। एक कहता है 'तुम आपस में लड़ते हो इसीलिए तुम्हें स्वराज्य नहीं मिलेगा।' दूसरा जवाब देता है 'स्वराज्य नहीं है इसीलिए तो आपस में लड़ाई होती है।'—ऐसा तमाशा चल रहा है! जरा देहात में जाकर देखिए। वहां हिंदू-मुसलमानों में वैर नहीं है। सच पूछिए तो उनमें वैर है ही नहीं। कुछ महत्त्वाकांक्षी बेकार और पढ़े-लिखे लोग दोनों को लड़ाकर खिलवाड़ करते हैं। इन लोगों के तीन विशेषण ध्यान में रखिए—पढ़े-लिखे महत्त्वाकांक्षी और बेकार। ये लोग हिंदू-मुसलमानों को बरबस उभाड़कर उनके झगड़ों का खिलौने की तरह उपयोग करते हैं।

इसका क्या इलाज किया जाय? इलाज एक ही है। जहां-कहीं ऐसी दुर्घटना हो जाय वहां जाकर हम अपने प्राण दे दें। यह उपाय देहात में काम नहीं आ सकता क्योंकि दंगे वहां से शुरू नहीं होते। पढ़े-लिखे बेकार और महत्त्वाकांक्षी लोग जहां दंगे कराते हैं—या उनके शब्दों में कहें तो 'व्यवस्था करते हैं'—वहां जाकर इसका प्रयोग करना चाहिए। इन व्यवस्थापकों ने दुनिया को परेशान कर डाला है। उनसे इतनी ही विनय है कि 'भाई यह धंधा छोड़ो और खूब व्यवस्थित बनो।' लेकिन वे मानेंगे नहीं। इसलिए यही एक इलाज है कि जहां दंगा हो जाय वहां जाकर हम अपना सिर फुड़वा लें। सौ-दो-सौ शांतिपरायण लोगों को ऐसे मौकों पर अपने सिर फुड़वा लेने चाहिए।

इन झगड़ों का कोई हद-हिसाब ही नहीं। वे सिर्फ हिंदू-मुसलमानों में ही नहीं हैं। पहले ब्राह्मणेतर दल था ही। अब सुनते हैं, कोई मराठा-लीग भी स्थापित हुई है। भूखमरे टुकड़खोरों का बाजार है! मैं जब बड़ौदे में रहता था तो वहां का एक पारसी किसी त्योहार के उपलक्ष में कभी-कभी भिखारियों को कुछ बांटता था। उन टुकड़ों के लिए वे आपस में लड़ते थे।

वैसा ही यह है। सरकार ने जो टुकड़े दिये हैं उन्हीं के बीच में ही हम रम जाते हैं।

हमारे तत्त्वज्ञान में मृत्यु के डर को स्थान नहीं है। और अब रोटियों के अभाव में भूखों मरने का भी अभ्यास हमें होगया है। इसलिए जहाँ दंगा हो रहा हो वहाँ हमें शान्तिपूर्वक जाकर बैठ जाना चाहिए। इच्छा हो तो कातना शुरू कर देना चाहिए। इतना काफी है। हम लोगों की ऐसी धारणा है कि बिना नारियल और सिंदूर चढ़ाये पूजा नहीं होती। नारियल की जगह मौसंबी नारंगी आम आदि चढ़ाने से काम नहीं चलता। नारियल और सिंदूर ही चाहिए। इसलिए मैं कहता हूँ कि आप अपना सिर फूटवाकर अपना रक्त चढ़ायें तो पूजा पूरी हो जायगी। केन-केन के समझौते से इन झगड़ों का निपटारा नहीं होगा। न 'केन' चाहिए न 'बेन'। मुस्लिम लीग से तसफिया कैसे किया जाय?

खादी के विषय में भी लोग इसी तरह पूछते हैं। कहते हैं कि खादी तो ठीक है लेकिन यह कातने की कला आप क्यों लगा रहे हैं? मैं कहता हूँ कि क्या करूँ? अगर कातने के लिए न कहूँ तो क्या सेवाई बनाने के लिए कहूँ? आप तो कहते हैं न कि लोग भूखों मर रहे हैं? ऐसी हालत में कुछ-न-कुछ निर्माण करने की क्रिया ही राष्ट्रीय उपासना हो सकती है। इसीको आज अनुशासन कहते हैं। नहीं तो स्वराज्य के आंदोलन में आप जनता को किस तरह शामिल करेंगे? अगर कोई काम न हो तो सिर्फ मुझ-जैसा बातूनी आदमी ही स्वराज्य का आंदोलन कर सकेगा— अर्थात् व्याख्यान दे सकेगा। लाखों करोड़ों लोगों को स्वराज्य के आंदोलन में सीधे शामिल होने की कोई तरकीब निकालिए।

जो तरकीब निकालें वह भी ऐसी होनी चाहिए कि लोग उसे सहज में समझ लें। अखबारवालों को जब कोई बात खास तौर पर लोगों के सामने रखनी होती है तो वे एक-एक इंच बड़े टाइपों में शीर्षक देते हैं। यूरोप में तो अब सिर्फ शीर्षकों से ही काम नहीं चलता चित्र देने पड़ते हैं। वहाँ के मजदूर चित्रों पर से समाचार जान जाते हैं। तात्पर्य यह कि स्थूल स्पष्ट और आँखों का ध्यान आकृष्ट करनेवाली चीज होनी चाहिए। तभी

शुरू काम होगा। खादी और चरखा लोगों की समझ में आसानी से आनेवाला अहिंसक आंदोलन का प्रत्यक्ष चिह्न है। उससे सारे राष्ट्र में स्फूर्ति की आग फैल सकती है। अगर इस इमारत में कम आग लग जाय तो इसके जलने में कितनी देर लगेगी? आप ऐसा हिसाब न लगाइए कि इसमें पहली चिनगारी लगाने में चालीस साल लगे तो सारी इमारत जलने में कितने साल लगेंगे। ऐसा ऊटपटांग गैरवाजिब आप न करें। इस इमारत में आग लगने में चालीस साल भले ही लग गये हों लेकिन उसके खाक होने के लिए एक घंटा काफी है। इसलिए तोते के समान क्रांति के सिद्धांत रटने-रटाने से काम नहीं चलेगा। सिर्फ तोता पढ़ाने से राष्ट्र प्रज्वलित नहीं होता।

'इन्किलाब जिंदाबाद' इत्यादि कई तरह के मंत्र अच्छे-अच्छे और पढ़े-लिखे आदमी भी रास्ते पर उच्चस्वर से चिल्ला-चिल्लाकर पढ़ते हैं। पढ़े-लिखे लोग कहते हैं कि पुराने लोगों को मंत्रों में बेहद विश्वास था। मेरी शिकायत यह है कि आप लोगों का विश्वास मंत्रों में पुराने आदमियों की बनिस्बत कहीं अधिक है। स्वराज्य का मंत्र आप जनता तक कैसे पहुंचायेंगे? इसका एक ही रास्ता है—मन्त्र के साथ तन्त्र भी चाहिए। जनता के साथ संपर्क कायम रखने के लिए मन्त्र की द्योतक किसी-न-किसी बाह्य कृति की जरूरत है। इतिहास में इस बात के सबूत विद्यमान हैं कि ऐसे तंत्रयुक्त-मन्त्र से समूचे राष्ट्र प्रज्वलित हो उठते हैं।

५ विधान-परिषद् और हमारी पात्रता

आज हम क्या मांग रहे हैं? हम आज ही स्वतंत्रता नहीं मांगते। यह 'सौदा' हम आज नहीं कर रहे हैं। हम इतना ही कहते हैं कि आप अपनी नेक-नीयती साबित करने के लिए इतना तो करें कि हमारी विधान परिषद् की मांग मंजूर कर लें।

यह विधान-परिषद् क्या है? आप सिर्फ शब्दों से चिपके न रहिए। स्वराज्य जब मिलेगा तब मिलेगा पर शब्दों के जंजाल से तो आज ही छुटकारा पाइए। विधान-परिषद् की मांग का इतना ही मतलब है कि हरएक बालिग व्यक्ति को मतदान का अधिकार हो और वह किस तरह

का राज्य चाहता है वह तय करने की उसे आजादी हो। अगर वह यह तय करे कि मौजूदा राज ही अच्छा है तो भी कोई हर्ज नहीं।

'हरिजन' में बापू के नाम एक अंग्रेज का लिखा पत्र छपा है। वह कहता है कि सब लोगों की राय लेने के झंझट में पड़ने के बदले सयाने लोगों की सलाह से इसका निर्णय किया जाय। उसकी बात मुझे भी जंचती है। 'आदमी पीछे एक राय' यह बात तो मुझे भी बेवकूफी-सी मालूम होती है। हरएक को एक ही राय क्यों? एक ही सिर है इसलिए। सिर की तरफ ध्यान गया इसलिए 'फी आदमी' एक राय का नियम बना। और अगर कानों की तरफ ध्यान जाता तो? तब हरएक की दो-दो रायें होनी चाहिए, ऐसा कहते। हरएक के दो कान होते हैं इसलिए हरएक की दो रायें होनी चाहिए। हरएक को एक ही राय का अधिकार होना चाहिए, इसका मुझे कोई सयुक्तिक कारण नजर नहीं आता सिवा इसके कि हरएक के एक ही सिर होता है। क्योंकि हमारा यह अनुभव है कि एक मनुष्य में जितनी बुद्धि होती है उसकी अपेक्षा दूसरे में हजार गुनी अधिक होती है। फिर भी बापू ने उस अंग्रेज सज्जन को जो जवाब दिया वह ठीक है। बापू पूछते हैं कि ये सयाने कौन हैं कहां और उनका प्रमाण-पत्र क्या है? यह सवाल मुझे भी कुंठित कर देता है। मैं एक सयाने को दूसरे हजार आदमियों की अपेक्षा अधिक महत्व देता हूं। लेकिन इस सयानेपन का प्रमाण-पत्र क्या हो? आज तो यही परिभाषा हो गई है कि वाइसराय जिसे प्रमाण-पत्र दे दें वही सयाना है। इस तरह के सयानों ने गोलमेज-परिषद् में जो गजब किया उसे दुनिया जानती है। अगर यह कहा जाय कि जिसे कांग्रेस कहेगी वह सयाना समझा जाय तो यह बात भी बहुत-से लोग मानने को तैयार नहीं हैं। हम अपने घरों में भी नहीं करते हैं। जब किसी एक की या किसी बुजुर्ग की बात मानने के लिए परिवार के लोग तैयार नहीं होते तो हम सबकी राय ले लेते हैं। यही अब तय किया गया है। विधान-परिषद् द्वारा हम इस प्रश्न का निपटारा करनेवाले हैं।

कहा जाता है कि इन निरक्षर लोगों की राय लेने से काम कैसे चलेगा? मैं कहता हूं कि लिखने-पढ़ने का यह अर्थ योग्यतावाला क्यों?

बिना तकलीफ के दूसरे लोगों के भेजों में ज्ञान ठूस देने की आलसी लोगों की हिमाकत का नाम है लिखना-पढ़ना। इस लिखने-पढ़ने से बहुत नुकसान हुआ है। सेवाग्राम के महात्मा गांधी किशोरलालभाई से कुछ कहना चाहते है तो एक पुरजे पर लिखकर बंद लिफाफे में भेजते हैं। वह लिफाफा लेकर एक अनाड़ी आदमी किशोरलालभाई को दे देता है और वह बापू की बात समझ लेते हैं। बचपन में हम 'बोलती चिपटी' (टाकिंग चिप) का किस्सा पढ़ा करते थे। लोग कहते हैं कि देखो क्या चमत्कार है! पढ़ने-लिखने की कला की बदौलत चिपटियां भी बोलने लगीं। मेरी यह शिकायत है कि सिर्फ चिपटियां ही बोलनेवाली नहीं हुई, बल्कि बोलनेवाले चिपटियां जैसे गूंगे हो गये। अगर लिखने की कला न होती तो गांधीजी को अपनी जगह छोड़कर किशोरलालभाई के पास जाना पड़ता। लेकिन हमेशा ऐसा करना मुश्किल है। इसलिए दूसरा उपाय यह करना पड़ता कि उन्हें अपने आसपास के लोगों को अच्छी तरह समझा-बुझाकर होशियार बनाना पड़ता कि वे ठीक-ठीक संदेशा पहुंचा सकें। लेकिन लिखने की कला की बदौलत आदमियों का काम चिपटियां बनाने से चल सकता है। गांधीजी के पास जितने बेवकूफ आदमी रह सकते हैं उतने क्या कभी प्राचीन ऋषियों के पास रह सकते थे? आज चिट्ठी के जरिये गांधीजी की बात बीच के आदमियों को लांघकर मेंढक के समान छलांग मारकर किशोरलालभाई के पास पहुंच जाती है।

"हिंदुस्तान के लोग भेड़-बकरियों की भांति अपढ़ हैं तभी तो तीन चार लाख गोरे उनपर राज्य कर सकते हैं। इतनी तो भेड़ें भी कोई नहीं संभाल सकता।" इस तरह की बातें मैं अक्सर व्याख्यानों में सुनता हूं। मेरा जवाब यह है कि अगर हिंदुस्तान के लोग भेड़ होते तो उनकी देखभाल के लिए बहुत से लोगों की जरूरत पड़ती। वे आदमी हैं—और जिम्मेदार और समझदार आदमी हैं—इसलिए उनकी राज्य-व्यवस्था के लिए बहुत आदमियों की जरूरत नहीं। ये फालतू तीन-चार लाख गोरे जब नहीं थे तब भी उनका राज्य खूब अच्छी तरह चलता था।

यहां के लोग अपढ़ भले ही हों लेकिन नादान नहीं हैं। हमारे यहां दरकार कभी महसूस नहीं हुई कि स्त्रियों को मतदान का अधिकार हो या नहीं। यूरोप में स्त्रियों को मतदान के अधिकार के लिए पुरुष से लड़ना पड़ा। हमारे यहां एनीबेसेंट और सरोजिनीदेवी का कांग्रेस का अध्यक्षपद प्राप्त करना स्वाभाविक माना गया।

मतलब यह कि यहां के लोग समझदार और अनुभवी हैं। पढ़े-लिखे न हों तो भी विधान-परिषद् के लिए प्रतिनिधि चुनने के लायक हैं।

प्रासंगिक

१ गरीबों के मुख्तियार

गरीबों के मुख्तियार गरीब ही होने चाहिए। यदि यह न हो तो कम-से-कम उनका दिल तो ऐसा हो जो गरीबों के दुख में दुखी और सुख में सुखी होता हो। गरीबों के साथ उन्हें सहानुभूति हो। कम-से-कम गरीबों से उन्हें प्रेम तो अवश्य हो।

हम अपने आपको गरीबों का मुख्तियार कहें और अपना हुजूरपन भी कायम रखें यह नहीं हो सकता। द्वारकाधीश जब पांडवों के मुख्तियार बनकर दुर्योधन से बातचीत करने के लिए गए तब उसने उनसे बहुत प्रार्थना की कि वे राजमहल में ही ठहरें। परन्तु भगवान ने यह स्वीकार नहीं किया। उन्होंने विदुर की कुटिया ही पसंद की। उसके सामने भगवान ने बैकुण्ठ को छोटा बना दिया। विदुर के कम्बल पर विश्राम किया। और उसे शेष-शय्या से भी अधिक सुखदायी मान लिया। विदुर की सागपात बड़ी चाव से खाई, और उसके सामने अमृत को कचा किया। ऐसा उन्होंने क्यों किया? क्योंकि वे भूले नहीं थे कि मैं उन पाण्डवों का प्रतिनिधि बन कर आया हूं कि जिन्होंने बारह वर्ष तक वनवास में और एक वर्ष के अज्ञात वास में जाने कितने कष्ट सहे हैं। पांडवों के और मेरे जीवन में कुछ मेल होना चाहिए। यह मेरा धर्म है। एक ओर राजमहल का आतिथ्य और दूसरी तरफ पांडवों के दुखों का रोना सुनाना यह एक नाटक ही होगा। भगवान का यह उदाहरण ग्रहण करने योग्य है। बच्चे की भूख जिस प्रकार मां को लगती है उस प्रकार जिसे जनता के दुखों का दर्द होता है वही उसका सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकता है। कहीं ऐसा हो सकता है कि भूखे बच्चे की मां रस छोड़कर भोजन करेगी?

(महाराष्ट्र-धर्म २५ १ २४ से संक्षिप्त)

२ स्वतंत्रता का गुलाम

पश्चिमी नीतिशास्त्र में एक मनोरंजक प्रश्न है 'पूर्ण नीतिमान् पुरुष अनीति का काम कर सकता है या नहीं ? एक पक्ष कहता है– "नहीं क्योंकि अनीति की क्षमता है वह 'पूर्ण' नीतिमान् कैसा ? पूर्व दोनों में मिलावट कैसे ? दूसरे पक्ष का कथन है– 'क्षमता होनी चाहिए । यदि पूर्ण पुरुष में अनीति की क्षमता भी नहीं होगी तब तो पूर्ण पुरुष नीति का एक 'अंश' बन जायेगा । वो 'नीति का गुलाम' हुआ वह न तो नीतिमान् है और न पूर्ण । शंकराचार्य ने ईश्वर को सर्वज्ञ कहा है । उसपर भी आपत्ति उठानेवाले ने इसी प्रकार का प्रश्न खड़ा किया है । वह कहता है– सर्वज्ञ यानी सब जाननेवाला । यदि कहा जाय कि ईश्वर कभी तो सबकुछ जानने का काम करता है और कभी नहीं तो जब वह यह काम नहीं करता तब वह 'सर्वज्ञ' नहीं हो सकता । अच्छा और यदि वह जिम्मेदारी का काम सदा करता है ऐसा कहें तब तो वह 'ज्ञान का गुलाम' बन गया । कर्मयोगी कर्मयोग का गुलाम नीतिमान् पुरुष नीतिमत्ता का गुलाम और सर्वज्ञ परमेश्वर ज्ञान का गुलाम और यह कौन ? यह है "स्वतंत्रता का गुलाम'

(महाराष्ट्र-धर्म १-८-२४)

३ नदी—ईश्वर की बहती हुई करुणा

नदी के किनारे रहनेवाले लोगों में एक प्रकार की उदारता और प्रेम होता है । नदी के रूप में ईश्वर की प्रत्यक्ष करुणा ही बहती है और किनारे पर बसनेवाले लोगों को उसमें गोता लगाने का काम मिलता रहता है । इससे उनके अन्तःकरण उदार बन जाते हैं । हमारी इस नदी को ऊपर वाले गावों ने भेजा है । इसी प्रकार हमें भी इसे नीचे वाले गावों को भेज देना चाहिए इस प्रकार की इच्छा और उपकारबुद्धि इन लोगों में उत्पन्न होती है । नदी किनारेवाले लोगों में एक प्रकार का सात्त्विक अभिमान होता है । जिस प्रकार मुझे अपने देश का अभिमान होता है उसी प्रकार नदी का भी अभिमान होता है । परन्तु देश का अभिमान

एक बार मन को संकुचित बना सकता है क्योंकि देश स्थावर है। परन्तु नदी तो संगम और बहती है। इसलिए उसका अभिमान भी संयम बहता हुआ होगा। इससे अंतःकरण व्यापक बनता है। महाराष्ट्र में कृष्णा गोदावरी के तीरोंपर बसनेवाले लोगों में एक प्रकार की विकार वृत्ति दिखाई देती है। क्योंकि उनके प्रान्त की नदियां दूसरे प्रान्तों में गई हैं। इसी प्रकार गुजरात में नर्मदा और तापी के तीर पर बसनेवाले लोगो में एकप्रकार की प्रेममयी कृतज्ञता-बुद्धि दिखाई देती है। क्योंकि दूसरे प्रान्त की नदियां उनको मिली हैं। सेवा का कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना और उदारता के साथ दूसरों की सेवा करना यह नदी-तीर के लोगों का स्वभाव होता है।

(रोहिणी की यात्रा महाराष्ट्र-धर्म ता २१ ११ २४ से संक्षिप्त)

४ कायर और क्रूर दोनों एक

उस दिन कलकत्ता के पास बकरीद के दिन हिन्दू-मुसलमानों का झगड़ा हो गया। कारण था गो-वध। मुसलमान थोड़े थे और हिन्दू अधिक। इस से लाभ उठाकर हिन्दुओं ने क्रूरता करदी। गांधीजी ने इसका निषेध किया। इस विषय में एक उलझन पैदा हो गई है। कोहाट के उपद्रव में हिन्दुओं ने कुछ भी प्रतिकार नहीं किया और वहांसे भाग गए। इसपर गांधीजी ने उन्हें कायर कहा। अब कलकत्ता में प्रतिकार किया तो उन्हें अत्याचारी बता दिया गया। करें तो क्या करें ?

इस उलझन को सुलझाना कठिन नहीं है। कायरता के दोष से मुक्त होने के लिए क्रूर बनना कढ़ाव से निकलकर भट्ठी में गिरने जैसी बात है। कायरता और क्रूरता एक ही चीज के दो अलग अलग नाम हैं। मुट्ठीभर लोगों की कत्ल करने या पीस डालने की वृत्ति जिस प्रकार क्रूर है उसी प्रकार कायर भी है। और भयभीत होकर भागजाने में कायरता के साथ क्रूरता भी होती है। क्यों कि कायर मनुष्य मन से हिंसा करता ही रहता है। अर्जुन को देखते ही भाग जाना और द्रौपदी के सोये हुए बच्चों की कत्ल करना ये दोनों काम करनेवाला अश्वत्थामा ही था। शौर्य कायरता

६ प्रेम का आधार

हम कहते हैं कि प्रेम करते समय गुणदोष नहीं देखना चाहिए। इसका अर्थ क्या है? गुणदोष नहीं देखें तो क्या देखें? गुणों से प्रेम करना तो सरल है। परन्तु गुण न हों तो भी प्रेम में कमी नहीं पड़नी चाहिए। इसका अर्थ क्या है? यदि गुणों को बाद देते हैं, तो प्रेम के लिए अधिष्ठान क्या रह जायगा? नास्तिक पुरुष को ऐसा कोई भी अधिष्ठान नहीं मिलेगा। परन्तु आस्तिक के लिए तो अधिष्ठान है। यह कि मूलभाव में हरि का निवास है। इस हरि का ध्यान करके प्रेम किया जाय। मूलभाव में हरि का वास है इतना कारण प्रेम करनेवाले के लिए काफी है। और गुण भी तो चंचल होते हैं। दोषों पर प्रेम करने की बात तो कोई भी नहीं करता। इसलिए प्रेम का अधिष्ठान परमात्मा है। हम सब एक ही मां की सन्तान हैं, यह हो प्रेमका आधार। यह बात दिल में जम जायगी तभी विश्वव्यापी प्रेम का अनुभव होगा।

(महाराष्ट्र-धर्म २१ ९-२५)

७ सत्य और सौंदर्य

रवीन्द्रनाथ प्रतिभावान कवि और नवीन विचारों के प्रवर्तक के रूप में समस्त विश्व में ख्यात हैं। ऐसे पुरुष के द्वारा उच्चारित प्रत्यक्ष वचन की ओर लोगों का ध्यान जाना स्वाभाविक है। पहले एक बार इटली से लौटने पर उन्होंने इटली सम्बन्धी अपना निरीक्षण लोगों के सामने पेश किया था। उसमें उन्होंने अपने सौंदर्य रसिक कविस्वभाव के अनुरूप इटली के सर्वाधिकारी मुसोलिनी के बारे में अनुकूल राय प्रकट की थी। इस पर अखबारों में आलोचनाएं हुईं। इसके जवाब में रवि बाबू ने खुलासा किया जिसमें लिखा था— "मुसोलिनी की कल्पनायें और कार्य-पद्धति को मैं अच्छा मानता हूं ऐसा ख्याल करना भूल है। कला-रसिक दृष्टि से मुसोलिनी के व्यक्तित्व का मुझपर अच्छा असर पड़ा है। परन्तु इतने पर से उनके कार्यों के बारेमें मेरे निर्णय का नैतिक अनुमान नहीं हो सकता। नैतिक निर्णय देने के लिए अधिक सामग्री की आव-

एक होती है। यह मैं पसन्द नहीं कर सका। इसलिए नैतिक दृष्टि से उस विषय में कहने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। मैं आशा करता हूँ कि जो गलतफहमी हो गई है उसे दूर करने के लिए इतना स्पष्टीकरण काफी होगा।"

इस स्पष्टीकरण में जो सत्य और सौंदर्य का भेद दिखाया गया है उसे यहाँ केवल तमीसर विचार करना है। रविबाबू की दृष्टि सौंदर्य प्रिय चमत्कारिक कवि की दृष्टि है। जो सुन्दर है वह सत्य भी है ऐसी उनकी राय मानी जाती है और है भी। परन्तु यह तो पूर्ण दृष्टि की बात हुई। सत्य और सौंदर्य में विरोध नहीं होता यह सिद्धान्त है भी सत्य। परन्तु जबतक हमारी दृष्टि में इतना अद्वैत नहीं आता तबतक केवल सौंदर्य की कसौटी पर पूरी तरह विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। अपूर्ण अवस्था में सौंदर्य की कसौटी धोखा दे सकती है। इसलिए साधक को चाहिए कि (१) वह सत्य और सौंदर्य इनको अलग अलग समझे और जो सत्य हो उसीका स्वीकार करे। फिर वह सुन्दर न हो तो भी चलेगा। और अद्वैत मानना है तो (२) समझ ले कि जो सत्य है वह सुन्दर भी होगा ही। फिर भले ही वह सुन्दर न भी दीखे। 'सुन्दर है सो सत्य है ही' इस रूप में अद्वैत को नहीं मान। मद्र रसना का अद्वैती सूत्र यह है 'जो रुचिकर है वही हितकर भी है'। अगाउ रसना का द्वैती सूत्र है 'रुचिकर अलग चीज है और हितकर अलग। परन्तु रुचिकर से हितकर श्रेष्ठ है। शुद्ध रसना का भी एक अद्वैती सूत्र है, परन्तु वह पूर्व रसना के अद्वैती सूत्र से उलटा है। अर्थात् 'जो हितकर है वही रुचिकर' भी है। साधकों को यह विवेक रविबाबू के स्पष्टीकरण से सीखना चाहिए। रविबाबू सौंदर्योपासक हैं। फिर भी उन्होंने आचार व विचार को नहीं छोड़ा है।

(महाराष्ट्र-धर्म ता ३-२९)

८ गीता और लोकशाही

एक आदमी को एकमत यह वर्तमान लोकतंत्र का सूत्र है। गीता कहती है, सब भूतों में एक ही आत्मा है। एक मनुष्य का एक मत और सब भूतों में एक ही आत्मा ये दोनों बातें ऊपर से समान ही प्रतीत होती हैं। परन्तु पहला सूत्र भेद को उत्पन्न करता है और दूसरा उसका संहार। यह फर्क है। एक बहुसंख्या के सुख का ख्याल करता है इसलिए अल्पसंख्या के सुख की उसे पर्वाह नहीं है। परन्तु दूसरा सूत्र सब के सुखों के लिए यत्नशील है इसलिए उसमें एक के सुख का भी ख्याल है। एक में वोटों का युद्ध होता है तो दूसरे में सबका मेल होता है। एक सिरों की गिनती करता है तो दूसरा सिरों को टटोलता है। पुराने जमाने में प्लेग की बीमारी हुआ करती थी। इस बीमारीवाले क्षेत्र से जो आता उसे एकदम सबके साथ मिलने नहीं दिया जाता था कुछ रोज अलग रखते थे। एक बार सिपाहियों ने इस प्रकार बाहर से आये कुछ लोगों को रोक लिया। परन्तु इन्हें कोई बहुत जरूरी काम था। इसलिए वे सिपाही से बारम्बार मिन्नत करने लगे कि वह उन्हें जाने दे। सिपाही ने कहा 'मैं आपको छोड़ देता। परन्तु क्या करूं? अफसर आकर के गिनती करता है। इसलिए नहीं छोड़ सकता। तब वे बोले 'अच्छा हम इतने ही दूसरे आदमी लाकर यहां रख देते हैं। तब तो काम चल जायगा न? सिपाही ने कहा हां जरूर चल सकता है। हमें क्या? बराबर गिनती होगई की हुआ। यह है लोक-तंत्र का सिद्धान्त। गीता में यह नहीं चल सकता।

(महाराष्ट्र-धर्म ता १८ १०-२१)

९ सब धर्म भगवान के चरण हैं

एक बार श्री महम्मदअली का 'कुरान का अध्ययन' इस विषय पर बम्बई में भाषण हुआ। इसमें उन्होंने जो विचार प्रकट किये थे आज के असहिष्णुता के युग में बहुत कम सुनाई देंगे। उन्होंने कहा 'कुरान के उपदेशों के विषय में हिन्दुओं अथवा ईसाइयों में यदि कोई अज्ञान या गलत ख्याल है तो इसके लिए जिम्मेदार मुसलमान हैं। परधर्म के बारेमें कुरान की

जो मूर्ति मानी जाती है उसके लिए कुरान नहीं वे मुसलमान जिम्मेवार हैं जो कुरान के विरुद्ध आचरण करते हैं। यदि कुरान का अच्छी तरह अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि जहाँ-जहाँ ईश्वर-परायणता है वहाँ वहाँ कुरान की दृष्टि में इस्लाम है। मैं स्वयं एक बार नास्तिक था। इस्लाम को अच्छी तरह से समझता नहीं था। इसलिए हिन्दुओं और ईसाइयों का विरोधी था। परन्तु जब कुरान पढ़ा तब उसका सही अर्थ मैं समझा। फलतः आज मैं हर सच्चे हिन्दू और सच्चे ईसाई में मुसलमान को देख सकता हूँ।

यह दृष्टि सही है। सच्चे हिन्दू में मुसलमान है और सच्चे मुसलमान में हिन्दू। केवल हमारी पहचान सही हो। विठ्ठल का उपासक कभी विठ्ठल की उपासना को नहीं छोड़ेगा। वह जीवनभर विठ्ठल का उपासक बना रहेगा। परन्तु राम की उपासना से उसका विरोध नहीं होगा। वह विठ्ठल में राम को देख सकता है। यही बात राम के उपासक की भी है। उसे राम की मूर्ति में विठ्ठल का दर्शन होता है। धर्माचरण भी एक उपासना है। उपासना में विरोध के लिए स्थान है ही नहीं। जिस प्रकार राम और विठ्ठल एक ही ईश्वर की मूर्तियाँ हैं और वे अलग अलग हैं फिर भी उनमें जिस प्रकार विरोध नहीं है, उसी प्रकार हिन्दू धर्म इस्लाम आदि एक ही सत्य धर्म की भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ हैं। उनमें विशिष्टता भले ही हो विरोध नहीं है। इस प्रकार जो देखता है वही देखता है। रामकृष्ण परमहंस ने भिन्न भिन्न धर्मों की साधना स्वयं करके उनकी एकरूपता का निश्चय कर लिया। तुकाराम ने अपनी उपासना को छोड़कर दूसरी किसी उपासना का स्वीकार नहीं किया। फिर भी वे सभी उपासनाओं में एकवाक्यता देख सकते थे। जो अपने धर्म का निष्ठापूर्वक आचरण करता है उसे स्वभावतः परधर्म के विषय में भी आदर होगा। जो परधर्म का आदर नहीं कर सकता वह अपने धर्म का भी आचरण आदर नहीं करता। धर्म का रहस्य समझने के लिए न कुरान पढ़ने की जरूरत है न पुराण। केवल एक बात याद रखनी चाहिए। वह कि 'सारे धर्म हरि के चरण हैं।'

(महाराष्ट्र-धर्म २४ १-२७)

१० बेमशिमी लिखें

समर्थ रामदास का वचन है कि दिवसामाजि कांहीं तरी तें लिहावें प्रति दिन कुछ न कुछ लिखते रहना चाहिए। हम कहते हैं "रोज कुछ देर चरखा चलाना चाहिए। रोज लिखने पर हमने भार नहीं दिया। मैंसी रैनेकी आज सर्व सामान्य जरूरत भी नहीं। परन्तु कार्यकर्ताओं के जो पत्र और रिपोर्ट आदि आती हैं उन्हें पढ़नेपर अब समर्थ रामदास के वचन की उपयुक्तता समझ में आती है। कार्यकर्ता कहते हैं कि लिखने जैसा कुछ भी नहीं होता। कार्यकर्ताओं के पास लिखने लायक कुछ नहीं। और जो कुछ नहीं करते उनके लिखने का कोई उपयोग नहीं। अर्थात् वाङ्मय (साहित्य) का उच्छेद ही हो गया। यदि यह कार्य-परायणता या चिंतन मग्नता का चिह्न होता तो उससे मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं होती। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तुस्थिति में उस चिंतन की कमी का लक्षण दिखता है। विचार करने की भी एक आदत होती है। आदत से विचार बढ़ता है। प्रतिदिन का निरीक्षण वृत्त अनुभव यदि रोज लिख लिये जावें तो स्मरण चिंतन अनुशीलन की आदत बढ़ती है। छोटे बड़े हर वृत्त के पीछे कोई वृत्ति होती है। उसे पहचानकर, वृत्तिशोधनपूर्वक छोटे बड़े सभी समाचारों का संग्रह करना चाहिए। समाचारों का छोटे और बड़े यह भेद ही झूठा है। और यों पूछा जाय तो इस संसार में कब कोई बड़ी घटना होती है? विश्व की गति के सामने बड़ी-से-बड़ी घटनायें भी शून्यवत् होती हैं। परन्तु हमारी वृत्ति के विचार से छोटी से छोटी घटना भी महत्वपूर्ण हो सकती है। हाथ वाणी और बुद्धि मनुष्य की विशेषतायें हैं। तीनों का एक दूसरे पर असर होता रहता है। तीनों के काम अर्थात् उद्योग जप और चिन्तन हमारे अन्दर एकत्र हो जाने चाहिए। तब देश के साथ हमारी सर्वांगीण प्रगति होगी। कार्यकर्ताओं से जिस लेखन की मैं आशा करता हूं वह मेरी दृष्टि से जप के स्वरूप की वस्तु है।

(ग्रा से वृ नवम्बर १९४)

११ मुहूर्तं ज्वलितं श्रेय

विठोबा पवनार का निवासी । पढ़ालिखा नहीं था । १७–१८ वर्ष की उम्र का एक सामान्य मजदूर । परन्तु शुद्ध चित्त के कारण उसने अनेक सज्जनों का चित्त अपनी ओर आकर्षित कर लिया था । उसकी अंतिम बीमारी में जिन्होंने उसकी सेवा की उन्हें उस सेवा का भार प्रतीत नहीं हुआ । पर इसे उपकार समझा ।

वर्ड्सवर्थ प्रायः अपने गांव के पासवाली टेकड़ी पर घूमने जाया करता था । शिल्पकार लोग इस टेकड़ी से अपने काम के लिए पत्थर ले जाया करते । मरने पर उसका स्मारक कैसा बनाया जाय इस विषय पर लिखते हुए वर्ड्सवर्थ ने कहा है– इस टेकड़ी पर एक पत्थर ऐसा है, जो अभीतक किसी भी शिल्पकार को आकर्षक नहीं मालूम हुआ । परन्तु इसी कारण मुझे वह अधिक आकर्षक लगता है । वह मेरे स्मारक का पत्थर माना जाय और उस पर इतना ही लिखें 'अनेकों में से एक' । वर्ड्सवर्थ की यह केवल आकांक्षा थी । परन्तु विठोबा सचमुच ऐसा था ।

एक लड़के से विठोबा की लड़ाई होगई । उसमें विठोबा का कोई खास दोष नहीं था । परन्तु मैंने उसे समझाया कि इस तरह बैर, लड़ाई होना स्वयं भी एक बड़ा दोष है । और दोनों के हाथ मिला दिये । तब से विठोबा सारा बैरभाव भूल गया और दोनों पूर्ण प्रेम से रहने लग गए ।

विठोबा के सद्भाव के ऐसे अनेक संस्मरण मेरे पास हैं । परन्तु अब वे विठोबा से निकलकर आत्मतत्त्व में लीन होगए हैं । मूल से वे वहीं के थे । ज्ञानदेव जैसे महात्माओं ने प्रार्थना की है कि 'मार्झे नाम रूप जावो' (मेरा नाम-रूप नष्ट हो जाय) वह इसीलिए ।

अपना काम पूरा करके शामको रोज विठोबा मेरे पास आता और मेरी बातें सुनता रहता । किसी दिन यदि वह संध्या को नहीं आता तो मुझे उसकी याद आती और सोचता कि आज वह क्यों नहीं आया । अब भी वह मेरे पास आया करता है । परन्तु पहले की तरह मेरी बातें सुनने के लिए नहीं अपनी बातें सुनाने के लिए ।

उसके चले जाने के बाद अब कितने ही दिनों से मैं यह वचन गुनगुनाया करता हूं–

माझ्या विठोबाचा कैसा प्रेमभाव ।
आपण चि देव होय गुरु ॥
पडिये देहभाव पुरवी वासना ।
अंती तो आपणापाशी न्यावें ॥

अर्थात् मेरे विठोबा का मुझपर कितना प्रेम है कि मेरे लिए वह भगवान और गुरु भी खुद ही बन जाता है। देहभाव को हटा देता है। अब तो केवल एक वासना शेष रह गई। वह कि अपने पास बुला ले। इसे पूरी कर दे।

(डा डे पु १५-८-१९)

१२ हिमालय विभूति क्यों ?

(एक पत्र से)

भगवान ने हिमालय की गिनती विभूतियों में क्यों की इसका प्रत्यक्ष अनुभव अब आपको हुआ होगा। कुछ विभूतियां अपने-अपने समय के लिए ही होती हैं। इनका भी उल्लेख गीता में है ही। परन्तु कुछ विभूतियां या विशेषता निसर्गात्मक होती हैं वहीं चिरंतन रह सकते हैं। यों तो इस संसार में चिरंतन केवल एक आत्मतत्त्व ही है। और विभूतियों को गिनाते हुए भगवान ने 'अहमात्मा गुडाकेश' कहकर वहींसे ही प्रारम्भ किया है। इस महा विभूति में शेष सब विभूतियों का समावेश हो ही जाता है।

बाह्य विभूतियों के दर्शन से आनंद होता है इसका कारण भी यही है कि आत्मा का कोई गुण उसमें प्रकट होता है। समुद्र को देखकर आत्मा की गम्भीरता गगन को देखकर आत्मा की अलिप्तता चंद्र को देखकर आत्मा की प्रसन्नता सूर्य को देखकर आत्मा की तेजस्विता हिमालय को देखकर आत्मा की स्थिरता इत्यादि आत्मभावों का या आत्मगुणों का अस्पष्ट अनुभव हमें होता है। और इसीलिए आनंद-प्रतीति होती है। जहां-जहां थोड़ी-सी भी आत्मोपलब्धि होती है वहां-वहां आनंद रहता है।

प्राकृतिक दृश्य देखकर प्रायः सभी को आनंद होता है। परन्तु सृष्टि में जो आत्मस्वरूप का दर्शन कर सकता है वही कवि है। हिमालय की सन्निधि में रहकर अनकों ने तपस्या की है। इस तपस्या की प्रतिमा हिमालय के शुभ्र शरीर पर अंकित है। अनेक ऋषियों ने उसकी कन्दराओं में बैठकर लोकहित की चिन्ता की है। उनकी यह विश्वकल्याण-चिन्ता यथापि नदियों के प्रवाहों के रूप में अभौतिक बह रही है। अनेक योगियों ने अपने शरीरों और उन्नत विचारों के द्वारा उसके शिखरों पर आरोहण किया है। उन विचारों की पवित्र वायु वहांसे आ आकर भारत के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रवेश करके उसे जगाती रहती है।

रात को सोते समय उत्तर दिशा का दर्शन और ध्रुव की निश्चलता का ध्यान कर के सैकडों मील दूर होनेपर भी मनुष्य हिमालय के सान्निध्य का अनुभव कर सकता है। सप्तर्षियों के तारे भी उत्तर में ही है। उनके आकार को देखकर लोगों ने अनेक प्रकार की कल्पनायें की है। परन्तु कश्मीर और हिमालय सहित भारत के नक्शे की आकृति जैसी बनती है मुझे वह सप्तर्षि की आकृति दीखती है।

(मा दे पू जुलाई १९४)

१३ निर्भयता के तीन प्रकार

निर्भयता तीन प्रकार की होती है—सिद्ध निर्भयता ईश्वरनिष्ठ निर्भयता विवेकी निर्भयता। सिद्ध' निर्भयता वह निर्भयता है जो सापों से परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेने से आती है। वह जितनी प्राप्त हो सकती हो उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी सांपों से जान-पहचान हो गई, निर्विष और सविष सांपों का भेद जिसने जान लिया सांप पकड़ने की कला जिसे सिद्ध होगई साप काटने पर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम होगये साप से बचने की युक्ति जिसे विदित होगई वह सांपों की तरफ से काफी निर्भय हो जायगा। अलबत्ता ही यह निर्भयता सांपों तक ही सीमित रहेगी। हरएक को शायद यह प्राप्त न हो सके लेकिन जिसे सांपों में रहना

पकता है उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोग की चीज है। क्योंकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है वह मनुष्य को अस्वाभाविक आचरण से बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी मानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता मनुष्य को पूर्ण निर्भय बनाती है। परंतु दीर्घ प्रयत्न पुरुषार्थ भक्ति इत्यादि साधनों के सतत अनुष्ठान के बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब वह प्राप्त होगी तो किसी अवांतर सहायता की जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी विवेकी निर्भयता है। वह मनुष्य को अनावश्यक और उटपटांग साहस नहीं करने देती। और फिर भी अगर खतरे का सामना करना ही पड़ तो विवेक से बुद्धि शांत रखना सिखाती है। साधक को चाहिए कि वह इस विवेकी निर्भयता की आदत डालने का प्रयत्न करे। वह हरएक की पहुंच में है।

मान लीजिए कि मेरा शेर से सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है। संभव है कि मेरी मृत्यु अभी बड़ी ही न हो। अगर बड़ी हो तो वह टल नहीं सकती। परंतु यदि मैं भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शांत रखने का प्रयत्न करूं तो बचने का कोई रास्ता मुझसे की संभावना है। या ऐसा कोई उपाय न सूझे तो भी अगर मैं अपना हाथ बनाये रखूं तो अंतिम समय में हरि-स्मरण कर सकूंगा। ऐसा हुआ तो यह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निर्भयता दोनों तरह से लाभदायी है। और इसीलिए वह सबके प्रयत्नों का विषय होने योग्य है।

अक्तूबर १९४

१४ मृत्युरूपी मरहम

मृत्यु ईश्वर की देन है। जब हमारे निकटतम नातेदार, मित्र तक—कोई भी हमें दुःखों से नहीं बचा पाते तब वही छुटकारा देती है। मृत्यु में जो दुःख माना जाता है वह वास्तव में जीवन का दुःख है। रोगादिक से होनेवाला दुःख मृत्यु का नहीं जीवन के असंयम का फल है।

मृत्यु तो उलटे हमें छुटकारा दिलानेवाली है। मृत्यु का उससे संबंध नहीं है।

अब मृत्यु के सिर व्यर्थ मढ़े जानेवाले इस शारीरिक दुःख का भार ले लिया जाय तो और दो दुःख बाकी बच जाते हैं। एक पूर्व-पापों की स्मृति से होनेवाला दूसरा निकटस्थ जनों के बिछोह की आसक्ति से होनेवाला। पहले के लिए मृत्यु कैसे जवाबदेह है? वह जीवन के पापों का फल है। दूसरा मोह का है। यदि हमारा प्रेम सच्चा हो और सेवा की लगन हो तो देह त्यागने से हम मित्रों से दूर नहीं बल्कि निकट पहुँचेंगे—ठेठ उनके भीतर प्रवेश पायेंगे। देह का परदा मौजूद रहते किसी तरह भी हम इतने अन्दर नहीं जा सकते थे। कितनी ही गहरी सेवा हो वह ऊपरी ही होती है। देह का परदा दूर हो जाने से अब हम दूसरे की अंतरात्मा में घुलमिलकर उसकी सेवा कर सकते हैं। पर सेवा करनी हो तबकी यह बात है। अर्थात् इसके लिए निष्कामता चाहिए।

और एक दुःख बाकी बच जाता है। पर वह मृत्यु का नहीं हमारे अज्ञान का है। मृत्यु के बाद क्या होगा कौन जाने? हमारे मन की यह भावना के विरुद्ध मृत्यु के बाद कुछ होनेवाला नहीं है और कुवासना ही हो तो जो कुछ बुरा होगा वह उस कुवासना का ही फल होगा—यदि ऐसी श्रद्धा ईश्वर की न्यायबुद्धिपर हो तो यह काल्पनिक भय टल सकता।

सारांश कुल दुःख चार हैं—

(१) शरीर-वेदनात्मक (२) पापस्मरणात्मक (३) कुटुम्बमोहात्मक (४) भावी चिंतात्मक और उनके चार ही उपाय हैं क्रमानुसार—

(१) निरहंमम (२) धर्माचरण (३) निष्कामता (४) ईश्वर में श्रद्धा।

मृत्यु का निरन्तर स्मरण रखना बुद्धि में मरण-मीमांसा द्वारा निःशंकता लाना और रोज रात को सोने से पहले मरणाभ्यास करना यह तिहेरी साधना करते रहना चाहिए। पहला गीता के ११ वें अध्याय में ज्ञानकथन में वर्णित है। उसपर ज्ञानदेव की व्याख्या सुस्पष्ट है। दूसरा दूसरे अध्याय के मूल में ही है। तीसरा आठवें अध्याय में है।

सर्वोदय १९४८

१५ निसर्ग-सेवन की दृष्टि

तुम सब आजकल निसर्ग की उपासना का आनन्द ले रहे हो। इमा-रतों की कल्पना निसर्ग के पूरे-पूरे फायदे हासिल करने नहीं देते। इसलिए केवल उतनी ही कल्पना न रखते हुए उसके साथ-साथ दूसरी भी व्यापक कल्पना की जाय तो ऐसे स्थान हरि-दर्शन करा सकेंगे। पहाड़ नदी आदि स्थानों में शिमला महाबलेश्वर इत्यादि विलास-स्थान का निर्माण करने में ईश्वर का अत्यंत अपमान है। हमारे पूर्वज इस प्रकार अपमान नहीं करते थे। इसलिए निसर्ग-देवता की कृपा से उन्हें आध्यात्मिक लाभ होता था।

वैदिक ऋषि उपनिषद् गीता व पश्चात्य सन्तों के अनुभव इन सबों में एकान्त सेवन और निसर्ग परिचय के अनेकविध लाभों का वर्णन है। मनुष्य समाज के अति प्राचीन ग्रन्थ से एक वचन यहां उद्धृत कर रहा हूं।

'उपह्वरे गिरीणाम् । संगमे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ।'

—ऋग्वेद

इस मन्त्र का ऋषि वत्स काण्व है। छन्द गायत्री। देवता इंद्र। इंद्र माने परमात्मा। उसीको इस मन्त्र में 'विप्र' माने 'ज्ञानी' कहा है। वह कहां और कैसे प्रकट हुआ ('अजायत'—जन्म लिया प्रकट हुआ) यह इस मन्त्र में कहा है। पर्वतों की कंदराओं में और नदियों के संगम पर ध्यान-चिंतन से ('धिया') ज्ञानी का जन्म हुआ।

ज्ञानी पुरुष का जन्म किस स्थान पर हुआ और वहां क्या करने से हुआ ये दोनों बातें इस मन्त्र में हैं।

ग्राम-सेवा-वृत्त

१९ "सह नाववतु" का विवरण

(एक पत्र से उद्धरण)

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

'सह नाववतु' इस मंत्र का भोजन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं ऐसा आक्षेप मैंने भी कई बार सुना है। परन्तु यह आक्षेप मुझे ठीक नहीं लगा। इसलिये उसमें फेर-बदल करने की आवश्यकता मुझे नहीं लगती।

इस मंत्र का संक्षेप में विवरण करता हूँ—

१ इसमें द्विवचन का प्रयोग हुआ है वह हेतु-पूर्वक है। समाज में गरीब-अमीर, शिक्षित-अशिक्षित स्त्री-पुरुष माता पिता और बच्चे गुरु शिष्य मजदूर-मालिक इत्यादि दो भाग सभी जगह देखने में आते हैं। उन्हें ध्यान में रखकर यह द्विवचन का प्रयोग किया गया है। दोनों मिलकर ईश्वर के पास सद्भावना की परस्पर अद्वेष की प्रार्थना करते हैं।

२ इस प्रार्थना के तीन अंग हैं—(अ) ईश्वर हम दोनों का (अन्नादि द्वारा) साथ-साथ पोषण करे। यह पोषण और सह-पोषण की प्रार्थना हुई। (आ) इसे ध्यान में रखकर हम दोनों (धर्म) मिलकर पुरुषार्थ करें, साथ-साथ कर्म करें, साथ-साथ उद्यम करें। (इ) ऐसे सह पुरुषार्थ से हम दोनों को तेजस्वी ज्ञान प्राप्त हो।

३ उपर्युक्त तीन अंग मिलकर जीवन विषयक एक सम्पूर्ण प्रार्थना होती है। इसलिए यह सार्वभौम है। प्रायः प्रत्येक सामुदायिक प्रसंग पर उसका उपयोग किया जा सकता है। मनुष्य एकान्त में हो या अकेला हो परन्तु मानसिक समवाय तो उसके साथ होता ही है। गायत्री मंत्र को विशेषतः एकान्त में जप करने का मंत्र माना गया है उसमें भी सामुदायिक दृष्टि पूरी नहीं है। उसमें "धीमहि" ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया गया है। गायत्री मंत्र में समुदाय की एकता की कल्पना की गई है। 'सह नाववतु' में प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले अथवा संभवनीय वर्ग-विरोध मिटाने की प्रार्थना है।

विभाग (अ) के द्वारा वह भोजनादि प्रसंग के अनुकूल है (आ) के द्वारा उसका उद्योगादि में उपयोग किया जा सकता है (इ) के अनुसार उसका अध्ययनादि में उपयोग होता है।

(ग्राम-सेवा-वृत्त १५ २ १९४१)

१७ दास-नवमी चिन्तन

समर्थ का श्लोक है—

'अती लीनता सर्व-भावें स्वभावें
जना सज्जनालागि संतोषवावें
देहे कारणीं सर्व लावीत जावें
सगूणीं अती आदरेंसी भजावें ।

१ हर बात में अतिशय नम्रता से व्यवहार करें। परन्तु कृत्रिम नम्रता किसी काम की नहीं स्वाभाविक होनी चाहिए।

२ जनता की सेवा करके सज्जनों को सन्तुष्ट करना चाहिए। क्योंकि जनसेवा से सज्जनों को सन्तोष होता है।

३ किसी न किसी अच्छे काम में शरीर को लगाकर उसे सार्थक करना चाहिए। देह को आलस में नहीं पड़े रहने देना चाहिए।

४ आदरपूर्वक भगवान की भक्ति करना चाहिए। सदा उनके शुभ गुणों का चिन्तन करते रहना चाहिए। इससे धीरे-धीरे उन गुणों का कुछ अंश हममें उतरेगा।

(मराठी हरिजन २१ २ ४७)